घटी की आवाज



अमृता प्रीतम

घाटी की आवाज़



शिवालिक बुक्स, दिल्ली-110032

घाटी की आवाज़

अमृता प्रीतम

ISBN : 81-88695-26-2

प्रथम संस्करण : 2007
आवरण : इमरोज़
मूल्य : 120.00 रुपये
प्रकाशक : शिवालिक बुक्स
10/119, भीष्म मार्ग, पटेल गली
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032
पृष्ठ संयोजन : एस.के. कम्प्यूटर्स, दिल्ली-110051
मुद्रक : एस. के. आफसैट, दिल्ली-110088

Ghati Ki Aawaz By Amrita Pritam

कृष्ण की रास लीला ही
शायरों की अक्षर लीला है....

और इस लीला में—
एक शायर के अंदर
कृष्ण भी होता है
और सखियां भी....

यह पुस्तक उनके नाम!
जिन्होंने अपने अंतर में—
अक्षरों की यह लीला देखी है....

—अमृता

9 एक वक्त था
19 नेपाल की एक गाती हुई रात
24 शुक्र की बिंदिया
29 नज़्मों और आंसुओं से भीगी हुई एक रात
34 ख़ाबीदा हुसीना
38 वरज़आब के किनारे
42 आठ सदियों की एक महफिल
47 अक्षर लीला
48 मैं अपने ख्यालों के सदके
50 ख़ुदाया! मैं बहुत कड़वी हूं
53 मैं पत्तन पर पड़ी नाव रे
56 पानी पर चलता सफ़ेद पंछी—काग़ज़ का टुकड़ा
61 मैं वहां हाज़िर नहीं था
65 पिता-पितामह से बातें करो
68 ख़ाब-हड़प्पा



71 सूक्ष्म तरंगों से बुनी हुई नज़्में

77 सांसों में सरसराती कविता

81 देह गाथा

86 तुम्हारी गोद में संन्यास मेरा

90 लिख तुम नीली बांसुरी

93 गांधी-चेतना

97 युग का अंतर

102 काले बीज को आता है जब—सुर्ख फूल का सपना

104 घाटी की आवाज़

108 आत्महत्या से पहले से लिखी हुई एक प्राचीन कविता

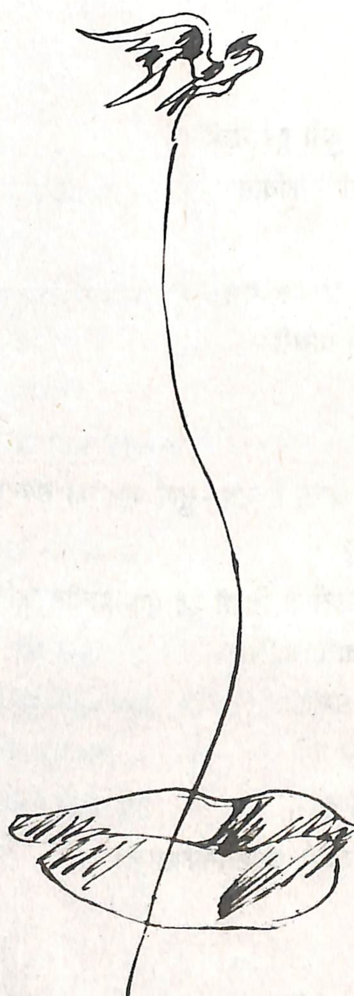
111 मन माली, जिज्ञासा मालिन

113 रब्ब रांझे जैसा नाहीं....

115 जेवड चर्ख़ा तेवड पूनी

117 कच्चा रंग मित्रों का

119 पत्तन पर खड़ी सुंदरी, घूंघट निकाल ले!



एक वक्त था

हमारे लोक गीतों में कई बार ऐसी पंक्तियां सुनने को मिलती हैं, जो अपनी बाहों में, पूरी धरती और पूरे आसमान को लिये हुए होती हैं। जिस तरह—पंजाब के एक लोक गीत में, एक धरती की बेटी यह कहती हुई मिलती है—

मेरे मितवा! मेरे सजनवा!
मुझे आसमान का एक लहंगा सिलवा दे
जिस पर धरती की किनारी लगी हो!

समाज, मज़हब और सियासत के दिए हुए दर्द को किसने नहीं झेला? एक लंबा इतिहास है कि लोगों की ज़िंदगी भी मलिन होती रही, और यह धरती भी। लेकिन पंजाब के एक लोक गीत में, पूरी धरती के कायाकल्प की कल्पना करती एक पंक्ति है—

इस धरती को कलई करवा दे!
मैं सारी रात नाचती रहूंगी....

लोक गीतों के यही पहलू मेरे मन में थे, कि जिन बरसों में मैं आकाशवाणी दिल्ली में मुलाज़मत करती थी, उन दिनों मैंने भारत के कई प्रांतों के लोक गीत तर्जुमा किए थे, जिन्हें, सतीश भाटिया, सुरिन्द्र सोनी और रामसरन दास जैसे संगीतकारों ने स्वरों में ढाल दिया था, और वक्त के माने हुए कलाकारों ने उन्हें अपनी आवाजों में उतार लिया था। यह सिलसिला जब आकाशवाणी से प्रसारित हुआ, तो उसे मैंने नाम दिया था—"गाता हुआ भारत"

अब भी उन गीतों की कई पंक्तियां याद आती हैं, तो उनके कितने ही रंग, आंखों के सामने झिलमिलाने लगते हैं—

एक वक्त था, जब पंजाब में चर्खा कातने वालियां, चर्खे को अपना सबसे बड़ा हमराज़ मान लेती थीं, क्योंकि वे काम के साथ जो गाती थीं, वे गीत उनके मन की आवाज़ होते थे, जिसे सिर्फ चर्खा ही सुनता, और अपने दिल में संभाल लेता। जब मैं कई प्रांतों के लोक गीत इकट्ठे कर रही थी, तो देखा—काश्मीर में भी चर्खा, अपने कातने वालियों का सबसे बड़ा हमराज़ है।

काश्मीर के एक गीत में—कोई सुंदरी बड़े प्यार से उसे पास बैठने के लिए कहती है, और उससे मन की बात करती है—

मेरे दुख सुख के साथी!
मेरे मित्र! मेरे महरम!
मेरे पास बैठ जाओ!
मैं तेरा धागा
फूलों के पानी में भिगोकर बनाऊंगी
और फिर पशमीना के लंबे-लंबे तार कातती रहूंगी
देखो अहिस्ता अहिस्ता बोलना
अगर मेरा महबूब आए—
तो उसे कहना—
मुझे इतना क्यों भुला दिया?
फूलों-सी जान को इस तरह नहीं रुलाते....

देखा हिमाचल के एक लोक गीत में भी गहरी अहसास मंदी है—

नदी तो भर बहती है
लेकिन मैं इस किनारे हूं
तुम दूसरे किनारे....
अरे! तुम तो तैरना जानते हो
फिर तैरकर क्यों नहीं आते?
अच्छा—देखो,
मैं एक नाव लेकर आती हूं
तुम खिड़की खोलकर इंतजार में रहना....

इसी तरह पहाड़ की एक सुंदरी कहती है—

अनार पकने लगे,
पर मैं एक दाना भी नहीं खा सकूंगी...

वह तो एक परदेसी था
कहां दिल लगा लिया?

मेरी आंखों से जैसे एक नदी बहती है,
लेकिन तू पत्थर सा,
फिर भी नहीं भीगता....

बावली का पानी तो ठंडा है
पर देखा! यह कैसा जीना है
कि मैं प्यासी—होकर
उसके पास से गुज़र जाती हूं
मैंने पानी तो तेरे हाथ का पीना है....

उत्तर प्रदेश का एक अवधी गीत, जिंदगी की तलब से भरा हुआ था—

मूंगे का रंग क्या है!
मोती का रंग क्या है!
रंग तो मेरे दूल्हे का है....

मूंगा सुर्ख है, मोती सफ़ेद है
मेरा दूल्हा सांवला है....

यह मूंगा कहां रखूं?
यह मोती कहां रखूं?
और अपने दूल्हे को कहां बिठाऊं?

मोती और मूंगा बालों में पिरो लूंगी
दूल्हे को अपने पलंग पर बिठा लूंगी....

बुंदेलखंड का एक गीत था—

तू नज़र भरकर देखता क्यों नहीं?
मेरे पास, आज आता क्यों नहीं?

मैं तो वन की हिरनी हूं
तू ठाकुर का बेटा है
कोई तीर चलाता क्यों नहीं?

गुजरात के एक गीत में, इंतजार में बैठी हुई एक सुंदरी खत लिखती है, और उड़ते पंछी से कहती है—

देखो! यह खत तेरे पंखों में छिपाती हूं
तुम उड़ते जाना, और उसे यह ख़त देना!

तुम बोल नहीं पाओगे, कोई बात नहीं
लेकिन अहिस्ता से अपने पंख खोल देना....
मैं उसके आने की इंतजार इस तरह करती हूं
जैसे एक मोर, सावन के आने की इंतज़ार करता है
जैसे सीता, राम के इंतज़ार में बैठी रही
जिस तरह कोई सखी कृष्ण के इंतज़ार में

एक बहुत प्यारा उड़िया गीत था—

मेरा दीया सच्चे सोने का है
राम जी! मुझे चंदन का तेल दे दो!
और दीये की लौ के सामने बिनती करूंगी
मेरा साजन मुझे मिला दे!

मैं मायके वालों के आंगन की भी
ख़ैरियत मांगती हूं!
ससुराल वालों के घर की भी
ख़ैरियत मांगती हूं!
और धरती माता के आंगन की भी
जहां चारों ओर, उसका परिवार बसता है....

दुनिया में अमन की, और दुनिया में बसने वालों की
ख़ैरियत, कभी कभी इतनी सहज होकर लोक गीतों
के होठों पर आती है कि देखते रह जाते हैं!

बंगाल में, जो गांव पानी के किनारे बसते हैं, उन गांवों के गीतों को 'मटियाली गीत' कहते हैं। एक गीत में बहती हुई नदी की ओर देखती, किसी के इंतज़ार में बैठी, एक सुंदरी का मन घबराने लगता है—

साजन रे! आज इतनी देर क्यूं कर दी?
राज गुज़रती जा रही है, खुदा रहम करे!

चावल रांध लिये हैं, हांडी उसी तरह पड़ी है
मेरी चिंता बादलों की तरह उमड़ने लगी है....

क्या कोई सुनहरी मछली
तेरे जाल में आ गई?
या तेरी नाव
पानी की लहरों में डोलने लगी?
डर लगता है—नदी के पार
किसी ने भरमा न लिया हो?
और इस समय कोई बैरन
बालों में फूल न लगा रही हो?

आज मैं माथे पर चंदन नहीं लगा पाऊंगी
आंखों में काजल नहीं लगा सकूंगी
मेरे दिल की नदी में तूफ़ान आ रहा है
कोई लहर मुझे बहाकर ले जाएगी
खुदा! रहम करे!

आदिवासियों का एक उरांव गीत मुझे मिला था—

मां री! सहारे के लिए!
अपना पल्लू पकड़ा दे!
मैं कसकर पकड़ लूंगी....

देख! बादल बावरे हो रहे
आसमान स्याह हो रहा
मैं अभी छोटी हूं....
तीखी हवा बहने लगी है

मेरा पैर कहीं फिसल न जाए
तू अपना पल्लू पकड़ा दे
मुझे एक सहारा दे दे!

एक संथाली गीत भी मिला था—

साजन! मेरे हाथ में अपना हाथ दे दे!
पर्वत की चोटी पर—
कोई आग जलने लगी

हवा, होठों पर बांसुरी लिये
बावरी सी हो रही
तू मेरा दिल ले ले!
हाथ में हाथ दे दे!

तलाशने लगी, तो जरायम पेशा लोगों के गीतों में एक गीत ऐसा मिला, जो बहुत नाज़ल ख़्याल था....ब्याह की रात आई है। लड़की अपने मर्द को आज कहीं बाहर जाने से रोकती है, डरती है कि कहीं वह किसी के हाथ में न आ जाए। दूर नज़दीक कई थाने पड़ते हैं....कहती है–

कहां चला रे! तू मेरा दूल्हा
आज की रात मत जाइयो!

मेरे बाप ने तुम्हें सुनहला ख़त लिखा है,
तेरे भाई ने भी सुनहला ख़त भेजा है

जरा हौले से पढ़ो!
वह पुलिस वाले कहीं पास ही खड़े होंगे....

अरे पुलिस वालो!
आज ज़रा इधर न देखो!
यह अपनी छड़ी ज़रा उधर को घुमा लो....
आज की रात मेरा दूल्हा मेरे पास है....

जिंदगी के न जाने कितने रंग लोक गीतों में समाए होते हैं, गढ़वाल के एक गीत में कोई किसी सुंदरी को देखता है, तो मतवाला सा होकर पूछता है–

अरी सांवली! तू किसके घर की लड़की है?
आग के धुएं जैसी
केले की फली जैसी
और आंखों में काजल डाले
तू जैसे मिट्टी के दीये से
एक लपट सी निकलती....
पत्तों की छाती में
एक कली खिलती,
और पेड़ की शाखा की तरह
तेरी कमर झूलती....

तेरे नाक पर एक मोती खेलता
तेरे होठों पर कोयल बोलती
तेरे गालों पर गुलाब खिलता
तेरी आंखों में एक आग जलती

अरी सांवली! तू किसके घर की लड़की है?

यह उन गीतों में से कुछ गीत हैं—कि जब इन्हें स्वर दिए जा रहे होते, मैं कई बार दिन भर आकाशवाणी के स्टूडियो में बैठी रहती....

उसी सिलसिले में फिर दूसरे देशों के लोक गीत तलाशने लगी, बहुत तो नहीं मिल पाए, लेकिन जितने भी मिले, उसी तरह उन्हें स्वर दिए गए, आवाज़ें दी गईं, और जब आकाशवाणी से प्रसारित हुए, तो उस प्रसारण को नाम दिया था, ''गाता हुआ आलम''

अमरीका का एक प्यारा गीत मिला, जिसमें वन पत्तों से भरी किसी वादी में, घर बनाने की आरज़ू थी—

चलो मेरी जान एक घर बनाएं—
उस वादी में—
—जहां भेड़-बकरियां चरने जाती हैं
जहां हिरन खेलते हैं
जहां किसी झील में हंस तैरते हैं
और जिस वादी में सपने आते हैं....

आज किरनों ने बादल हवा दिए
सूरज ने अपनी धूप बिछा दी
चलो मेरी जान! एक घर बनाएं!

उस वादी में
जहां पवन महकती
जहां सोने के ज़र्रों जैसी
रेत चमकती

जहां एक कली खिलती
जहां यह जान चहकती

उस वादी में—
जहां रात, तारे बांटती
जहां चांद की चांदनी बरसती
चलो मेरी जान—एक घर बनाएं!

चैकोस्लोवाकिया का एक गीत था—
आने वाले! मेरा द्वार मत खटखटाना
घर की दीवारें कान लगाए बैठी हैं
इन पर यक़ीन मत करना।

नींद की आहट आने लगी है
देखती हूं—
पहले किस खटिया पर जाती है
एक खटिया तो मेरे बाप की
एक खटिया मेरी मां की
एक मेरे भाई की खटिया
नींद बारी बारी से
हर खटिया पर जाएगी

फिर जब गली ख़ाली होगी
तुम अहिस्ता से चले आना!
घर का द्वार मत खटखटाना
नहीं तो दीवारें चुगली खाएंगी

रोमानिया का गीत भी मिल गया था—
बाड़ी में बहार का फूल आ गया
अभी अभी यौवन मेरे पास आया है
एक नया रंग लाया है
बाड़ी से मुझे एक फूल तोड़ दे!

हवा में महक कहां से आई है
हाथों में रंग लाई है
यह मेरे इश्क की मिन्नत
हाथों को कंवारे रखना
और बाड़ी में आकर
सौ फूल तोड़ लेना!

बल्गारिया का एक गीत भी मिला—

आज अंबर से मोती बरसते
अकेली को छोड़ मत जाइयो!
आसमान भी नीला, धरती भी हरी
रिज़क, परदेश में बुला रहा
और यही मुश्किल सामने ला रहा

रिज़क का मौसम फिर भी आएगा
लेकिन यह यौवन फिर नहीं आएगा
आज अंबर से मोती बरसते
अकेली को छोड़ मत जाइयो!

बर्मा का भी फूलों सा कोमल एक गीत मिला—

सिर पर बिछुड़ने की रात आई है
और पैरों के सामने दरिया बहने लगा....

मैं दरिया के पार जाऊंगी
जहां किसी की ज़ुल्फ़ों से
एक महक आती है
और प्रिय का दीदार होता है....

यह बिछुड़ना किसने दिया?
यह दरिया किसने बनाया?
बिछुड़ना ख़ुदा ने दिया—
दरिया राजा ने बनाया—
मेरी रात बैरागन हुई

दरिया के पार कैसे जाऊंगी?
कोई रास्ता खोज लूंगी
यह दरिया तैर लूंगी

मैं दरिया के पार जाऊंगी
जहां किसी की ज़ुल्फ़ों से
एक महक आती है
और प्रिय का दीदार होता है....

एक गीत तिब्बत का भी मिल पाया था—

मेरे बाएं हाथ में अंगूठी
दाएं हाथ में दात्री
चलो! मटर की फलियां तोड़ लाएं
अपनी फसल काट आएं

कई रंग अंगूठी में
आधा सा चांद दात्री में
मैं तेरी ख़ैर मांगती हूं
खेतों का बुलावा कबूल लेती हूं....

धरती का टुकड़ा कोई भी हो, गीतों की भाषा कोई भी हो, लेकिन सभी लोक गीतों में—मुहब्बत के रंग भी भरे हुए हैं, मेहनत के रंग भी....और यह सब अनुवाद करते हुए, मैं इनके रंगों में भीगती रही....

नेपाल की एक गाती हुई रात

सारा नेपाल जैसे एक वृक्ष है, मंदिर के फूलों से ढका हुआ। सभी मौसम पास से गुज़र जाते हैं, किसी का साहस नहीं कि कोई इन फूलों को छू ले। सदियों से मनुष्य के मन की भटकन इन फूलों को प्रणाम करती है। गरीबी के आंचल में वैसे ही प्रणाम के बिना कुछ नहीं होता। बढ़ी-चढ़ी अमीरी भी, जो अपनी रात किसी कुंवारे यौवन की ख़ुशबू में गुज़ार लेती, सुबह उठकर सौ तोला सोना इन मंदिरों की पैड़ी पर रख जाती। आज भी इन कलाकृतियों के माथे पर सोना मढ़ा हुआ है, होठों में आहें जमी हुई हैं....

एक ओर बागमती नदी है। लोक की हार, परलोक की जीत में, विश्वास करती हुई, हमेशा गुज़र करती रही है। इस नदी का पानी लोगों के विश्वास को अच्छी तरह धोने के लिए सदा बहता रहता है। किसी आदमी की सांस रुकती हुई लगे, तो उसके रिश्ते-नाते वाले उसे इस नदी के किनारे पर ले आते हैं। चाहे उसकी सांस कोई ज़िद पकड़ ले और आठ-आठ, दस-दस दिन उसके होठों में अटकी रहे, पर वह इसके पानी की ओर देख-देखकर अपना विश्वास मैला नहीं होने देता कि उसका परलोक संवर जाएगा....

पर्वतों के माथे सदियों से ऊंचे हैं। हालांकि वादी का एक-एक राजा सौ-सौ जवान कंवारियों के आंसुओं में डूबता रहा और वादी का एक-एक श्रमिक सौ-सौ श्रमों के पसीने में। और फिर इस वादी की मिट्टी में से क्रांति उगी। शुक्रराज को जिस वृक्ष के साथ फांसी दी गई, लोगों ने पहरेदारों की आंख बचा ली, और उस वृक्ष को अगले रोज ही फूल-चंदन से पूज लिया। गंगालाल, धर्मभक्त और दशरथचंद को जिस ज़मीन पर खड़ा करके गोलियों से मारा गया, लोगों ने वहां की मिट्टी को माथे पर लगा-लगाकर वहां गढ़े डाल दिए।

"आज हमारे कवि बेशक कैंसर से मर रहे हैं या तपेदिक से, पर यह हिमालय हमारा गवाह है, हमारा कविता के साथ प्रेम नहीं टूट सकता।" एक नेपाली कवि

ने कहा और फिर काठमांडू की शरद् संध्या में जैसे एक चिनगारी जल उठी....

मेरी पंजाबी कविता ने कहा–

विरह की इस रात में कुछ रोशनी-सी आ रही
क्या याद की बत्ती कुछ और ऊंची हो गई?

और इस बत्ती के गिर्द जाने कितनी बत्तियां जल उठीं। विरह की रात किसे नसीब नहीं हुई थी....

एक घटना, एक घाव और एक दर्द दिल के पास था।
रात को यह सितारों की रकम ज़रबें दे गई....

और रात ने सारे दिलवालों के दर्द को सितारों से ज़रब दे दी

सुमन ने टैगोर के शब्दों में कहा–

दौलत भी है, रूप भी, शोहरत भी
फिर यह पीड़ा कैसी?
लगता है कोई सदियों की विरहिन
मेरे सीने में बैठी है....

बर्फ से ढंके हुए पर्वतों की वादी में आग जलने लगी। दीवाने इस आग को लोहड़ी (पंजाब का एक त्यौहार) बनाकर सेंकने लगे। कोई लकड़ी नेपाली कविता की थी, कोई हिंदी कविता की, कोई बंगाली कविता की और कोई पंजाबी की....

धर्मराज थापा ने किसी नेपाली लोकगीत की एक लकड़ी इस लोहड़ी की आग में डाल दी–

पेड़ अपनी बेलों से लदा हुआ है,
मैं दुःख की बेलों से ढंका हुआ हूं....
पेड़ पर यह जादू जाने किस बीज ने किया था,
मेरे साथ ये जादू तेरी लाल वेणी ने किया है....

माधवप्रसाद धीमीरे ने लपट को ऊंचा किया–

जब कोई किन्नरी रोती है, तब पर्वतों के कोने से
पहला बादल उठता है।....

जहां मेरी प्रेमिका अकेली बैठकर रोती है,
यह सतरंगी पेंग उसी गुफा से निकली है....

गंगा बहती-बहती जाने कहां पहुंच गई,
जिंदगी भी रोती-रोती जाने कहां चली जाएगी....
जैसे बादल आ गए
और पर्वतों की चोटियां नीली सांवली हो गईं,
ऐसे ही तेरा विरह मुझ पर छा गया है....

जैसे फूलों की पत्तियों ने
ओस-कण को अपनी बाहों में समेट लिया है,
ऐसे ही मैंने अपनी पलकों में तेरा आंसू छुपा लिया है....

उस महफिल में कौन था, जिसने अपनी पलकों में किसी-न-किसी का आंसू नहीं छुपाया था? किसका दिल था जिसने किसी-न-किसी के पेड़ पर सपनों का घोंसला नहीं बांधा होगा, कि नेपाली लोक गीत के होठ हिले—

कई सुंदर पेड़ होंगे :
चील को जो ऊंचा पेड़ पहले दिखाई दिया,
उसी पर वह बैठ गई....
मैंने तुझे ही सबसे पहले देखा,
और मेरे दिल ने नीड़ बना लिया....

यह नीड़ क्यों बनते हैं, जहां कोई रह नहीं सकता? इस राह में वह राही क्यों मिलते हैं, जो दो कदम भी साथ नहीं चल सकते? किसी को मालूम नहीं। सुमन को गालिब की तरह कोई राह-गुज़र याद आया—

जिंदगी तो मिल गई थी
चाही या अनचाही,
बीच में यह तुम, कहां से मिल गए राही!

निराला वहां नहीं थे, पर उनका स्वर वहां था—

बांधो न नाव इस ठांव बंधु—पूछेगा सारा गांव बंधु!

सिद्धिचरण श्रेष्ठ की एक पंक्ति ने कभी उसे साढ़े पांच बरस जेल में रखा था : 'क्रांति बिना शांति नहीं।' आज उसकी प्यार-क्रांति कह रही थी—

मेरे कितने आंसू और कितनी आहें खर्च हो गईं,
मैं कुछ नहीं कहता।
पर मेरी मौत के बाद तू मेरी कविता पढ़ेगी,
आकाश से पूछेगी, "उसने मुझे प्यार किया था?"
फिर एक बूंद तेरी आंखों में अटक जाएगी
एक गहरा सांस तेरे होठों पर जम जाएगा....

नेपाल का एक लोकगीत भी उस आग में बलने लगा—

मेरे हाथों की चूड़ियों ने
मेरे हाथ छील दिए;
मेरे गांव की बातों ने
मेरा मन खरोंच डाला....

शंकर लामी छाने की कविता 'भरापूरा जाड़ा' जैसे रक्सी (नेपाल की शराब) का प्याला था—

आज पोखर के किनारे की सारी हवाएं चुपचाप खड़ी हैं;
उनकी अंगुलियां आज पानी को नहीं छेड़तीं;
सारे सरोवर पर कुहरा जम गया है।

नेपाल में दशहरे के दिन बलि के समय पशु के सिर पर पानी का छिड़काव होता है, जिससे वह कांपता है। उस कांपने को उसकी इच्छा समझा जाता है।

तू आज किसी छिड़काव से मत कांप जाना
आज हिमालय की विजयादशमी है
और वह सारी धूप की शराब पीकर मतवाला हो गया है....

धूप की शराब हिमालय ने पी होगी। सुनने वालों ने इस खयाल की शराब का घूंट भरा और 'चीसो चूलहो' (ठंडे चूल्हे) महाकाव्य लिखने वाले बालकृष्ण सम ने झूमकर कहा—

मैं कभी नहीं मरूंगा
मैं अमर—मैं खोऊंगा नहीं....
अंधेरे आकाश के खुले खेत में

मैं कल्पना की सीमा से भी पार चला गया....
अनंत समय बीत गया,
काल मर गया, मैं नहीं मरा....

अणु-परमाणुओं का आटा गूंधकर
आकाश के चकले पर
हवा के बेलन से बेल-बेल,
मैंने बादलों की रोटियां पकाईं;

मैंने ब्रह्मांड का अंडा फोड़ा
असत्य से सत्य बना
किरणों की कूंची से मैंने आकाश को रंग दिया....

प्रबोध कुमार सान्याल स्वयं कवि थे, अस्सी पुस्तकों के लेखक, अठारह फिल्मों के कहानी-लेखक, पर आज उसकी ज़बान पर सिर्फ टैगोर बैठा था। सुमन के पास सिर्फ अपनी हिंदी कविता की ही आग नहीं थी। उसने बिहारी, कालिदास, निराला, नवीन, टैगोर, गालिब, फैज़ और जाने किस-किस की आग सम्हालकर रखी हुई थी।

"ये नेपाल के कवि पहले दिन के सूरज की अंतिम किरण को दूसरे दिन के सूरज की पहली किरण से गांठना जानते हैं।" डॉ. सुमन ने कहा और सच ही, यह वह रात थी, जिसके हाथों से मैंने किरणों की गांठ पड़ती देखी....

शुक्र की बिंदिया

इंडोनेशिया के शाही बुलावे पर जब एक बार इंदिराजी इंडोनेशिया गईं तो सरकारी बैठक के बाद जैसा कि होता है शाम को मेहमान के स्वागत में सांस्कृतिक कार्यक्रम पेश किया गया।

इंदिराजी के सेक्रेटरी श्री शारदा प्रसादजी ने घटना मुझे खुद सुनाई थी कि उस शाम इंडोनेशिया के कलाकारों ने मंच पर रामायण का नाटक प्रस्तुत किया था। नाटक की भाषा चूंकि इंडोनेशियाई थी इसलिए कुछ दुभाषिये मेहमानों के पास बिठा दिये गये जो कहानी का अर्थ बताते रहे।

मेहमानों ने बताया कि इस कहानी को हम जानते हैं और इस कहानी का कोई मुकाबला नहीं।

दुभाषियों ने हैरान होकर पूछा कि आप पहली बार हमारे यहां आये हैं फिर इस कहानी को कैसे जानते हैं।

रामायण की कथा सदियों से लोगों के हृदय में गूंज रही है। जब इस्लाम आया तो लोगों के मजहब बदल गये, फिर भी यह कहानी उनके हृदय में गूंजती रही।

सदियों में अगर कुछ फर्क पड़ा तो इतना ही कि वह कहानी कहां कही गई थी, उसको किसने लिखा था, वह जगह भी लोग भूल गये और उसे लोगों तक पहुंचाने वालों का नाम भी भूल गये। लेकिन कहानी लोगों की रगों में उतर गई थी इसलिए वह हवा में बहती रही।

शारदा प्रसाद जी ने उनके प्रश्न का जवाब देने के बजाय उनसे ही एक सवाल पूछा था-"तुम्हारा क्या ख्याल है। ये कहानी किसने लिखी होगी।"

वे बहुत सोचने लगे, लेकिन कुछ याद नहीं आया कि वह रामायण कब, किसने, किस समय लिखी होगी। वे तो कहानी जानते थे और यह कि उनका मजहब इस्लाम है। इसलिये बहुत सोचकर उन्होंने कहा था-"कुछ पता नहीं लेकिन यह रामायण जरूर हजरत मुहम्मद साहिब ने लिखी होगी।"

लोकगीतों और लोक कहानियों का कुछ ऐसा जादू होता है कि उसमें कोई नाम या जगह स्थायी नहीं होती। लेकिन उनकी आत्मा लोगों की सांसों में घुल

जाती है। इसलिये लोग उन्हें अपने रंग में रंगकर अपना बना लेते हैं।

निमाड़ प्रदेश के रामनारायण उपाध्याय लोक जीवन के साथ जुड़े हुये लेखक हैं। राम सीता आदिवासियों के जन जीवन में कैसे रमे हुए हैं इसकी बात करते हुए रामनारायण उपाध्याय ने लिखा है :

आदिवासियों ने अपने राम की कल्पना एक वनवासी के रूप में की है। वे राजमहल में नहीं एक झोपड़ी में जन्म लेते हैं और वनवासियों की तरह तीर कमान धारण करते हैं। उनमें कहीं राम अपनी कुटिया में दीआ जलाने के तेल का प्रबंध करते हैं। लक्ष्मण बाती बनाते हैं और सीता दीप जलाती हैं। इसी तरह राम हल चलाते हैं, लक्ष्मण जुताई करते हैं और सीता बीज बोती हैं।

इसमें राजा दशरथ और राजा जनक दोनों के यहां संतान नहीं होती। वे संतान प्राप्ति के लिए आदिवासियों की तरह जंतर मंतर में विश्वास करते हैं।

इतने में राजा दशरथ के यहां एक साधु आता है और वह जंतर मंतर के बल पर राजा के यहां चार संतान होने का आशीर्वाद देता है। साथ ही यह शर्त भी रखता है कि जब भी संतान हो राजा पहले दो पुत्र उसे कुछ समय के लिये उधार देंगे।

समय पाकर राजा के यहां चार पुत्र होते हैं। साधु अपने वचन के अनुसार कुछ समय के लिये पहली दो संतान मांगता है। राजा के मन में बदलाव आता है। उसे पहले और दूसरे दो पुत्र बहुत प्यारे थे। सो वह बजाय पहले और दूसरे पुत्र के स्थान पर तीसरा और चौथा पुत्र साधु को देता है।

साधु उन्हें एक चौराहे पर ले जाता है और पूछता है—

"यहां से एक रास्ता वन को गया है दूसरा नगर को। तुम कौन सी राह जाना पसंद करोगे।"

दोनों कहते हैं—'नगर की तरफ'

साधु समझ जाता है कि यह पहली और दूसरी संतान नहीं हो सकती। वह फिर राजा के पास जाता है और कहता है राजा तुमने झूठ बोला है। यह तुम्हारी पहली और दूसरी संतान नहीं है। राजा अपनी गलती स्वीकार करता है और उसे राम और लक्ष्मण देने पड़ते हैं। वह साधु उन्हें फिर एक चौराहे पर ले जाता है और पूछता है—"यहां से एक रास्ता वन को जाता है और दूसरा नगर को। तुम कौन सी राह जाना पसंद करोगे?"

दोनों ही कहते हैं—"वन की राह"

यहां स्वभाव से ही राम और लक्ष्मण को नगर के सुख-सुविधाओं से भरे रास्ते की अपेक्षा वन की राह जानेवाला तपस्वी बताया गया है। उनकी मान्यता है कि जो स्वेच्छा से वन की राह स्वीकार करता है वही युग का राम होता है।

उनकी वार्ता में जनक का कोई राजमहल नहीं होता। उनकी एक झोंपड़ी थी

और उनकी पत्नी अपने हाथों से गोबर से अपना आंगन लीपती थी। परन्तु उसकी कोई संतान नहीं होने से वह उदास रहती थी।

एक बार बरसात रूठ गई। खेत सूखने लगे। भयंकर अकाल पड़ा। तो जैसा कि गांव वालों का विश्वास रहा है कि यदि गांव का मुखिया बादलों के उठने की दिशा में धुव्र की पूजा कर हल चलाये तो वर्षा होती है।

वे राजा जनक के पास गये, राजा जनक ने खेत में हल चलाया और उससे जमकर वर्षा हुई। लेकिन इस बीच एक चमत्कार हुआ। राजा के हल चलाते समय हल की नोक के सामने एक कन्या मिली। जनक ने उसे गोदी में उठा लिया और बेटी की तरह उसका पालन पोषण किया। चूंकि हल के अग्रभाग में लगे लोहे के फाल को "सीता" कहते हैं इसलिये उस कन्या का नाम भी सीता रखा गया। कौन थी वह कन्या, भयंकर अकाल से त्रस्त होकर बेचारे आदिवासी अपने नवजात बच्चों को खेत में फेंक गये थे। इस तरह एक गरीब आदिवासी द्वारा फेंकी गई वह कन्या ही सीता थी। उसके तेजस्वी होने का यही रहस्य है।

राजा जनक की पत्नी रोज़ आंगन लीपती थी। उस आंगन में एक धनुष रखा था। वह इतना भारी था कि किसी से उठता न था। और वह आंगन का उतना हिस्सा बिना लिपे छोड़ देती थी। एक दिन रानी को बुखार आ गया सो सीता ने आंगन लीपते समय उस धनुष को उठाकर उसके नीचे का हिस्सा भी लीप दिया।

जनक को यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और खुशी भी कि उनकी लड़की धनुष भी उठा सकती है और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं अपनी बिटिया का विवाह उसी के साथ करूंगा जो इस धनुष को तोड़ दे।

उधर वह साधु राम और लक्ष्मण के साथ वहां पहुंच जाता है जहां सीता का स्वयंवर होने वाला है। धनुष तोड़ने की शर्त सुनकर राम लक्ष्मण से कहते हैं, "यह तो छोटा सा काम है तुम ही कर दो।" लक्ष्मण कहते हैं, "काम तो छोटा सा है, लेकिन अगर मैं कर दूंगा तो सीता के साथ मेरा विवाह हो जाएगा और आप कुंवारे रह जाएंगे। बड़े भाई के रहते, छोटे भाई का विवाह करना शोभा नहीं देता।"

तब राम खड़े होते हैं और पलमात्र में धनुष को उठाकर तोड़ देते हैं। धनुष के टूटते ही बिजली के गिरने जैसा प्रकाश और कड़कड़ाहट होती है। धनुष क्या टूटा सबको राम और लक्ष्मण के अवतरित होने का पता चल गया। उसके बाद साधु अपने वादे के अनुसार सीता सहित राम और लक्ष्मण दशरथ को लौटा देते हैं।

इस बीच दशरथ की सत्ता बढ़ चुकी होती है और सत्ता के झगड़े, झांसे और स्वार्थ राम लक्ष्मण के पुनः वनवास का कारण बनते हैं।

आदिवासियों का विश्वास है कि किसी समय इमली के पत्ते बहुत छोटे होते थे और उनसे बनाई झोपड़ी से कभी पानी नहीं टपकटता था। लक्ष्मण ने जब राम

और सीता के रहने के लिए इमली के पत्तों से झोंपड़ी बनाई, तो एक दिन राम ने लक्ष्मण से कहा, "हम तो यहां आराम से रहते हैं, जब वन में आए हैं तो वन की मुसीबतें भी हमें उठानी चाहिए। हमारी तो झोपड़ी भी नहीं टपकती। तुम तीर कमान से इन इमली के पत्तों को चीर दो तब हमारी झोंपड़ी टपकने लगेगी।"

लक्ष्मण ने ऐसा ही किया और तब से इमली के पत्ते छोटे हो गए और अब उससे बनी झोंपड़ियों में पानी आता है। इसी तरह लक्ष्मण ने एक जगह खजूर के पत्तों की झोंपड़ी बनाई थी। तब खजूर के पत्ते भी चौड़े होते थे। और उनसे बनी झोंपड़ी में भी पानी नहीं आता था। लक्ष्मण ने उसके पत्ते भी चीर दिए तब से खजूर के पत्ते भी छोटे हो गए और उनसे बनी झोंपड़ियों में पानी टपकता है।

राम लक्ष्मण और सीता वन में कंदमूल खा के गुजारा करते थे। एक दिन सीता ने कहा कि यहां से एक ठिगना सा हिरन रोज निकलता है। अगर राम उसे मारकर ले आएं तो रोज रोज भटकने की चिंता नहीं रहेगी।

राम उस हिरण को मारने के लिए जाते हैं। पर उन्हें लौटने में देरी हो जाती है, इसलिए चिंता में पड़ी सीता राम को ढूंढ़ने के लिए लक्ष्मण को भेजती है। लक्ष्मण सीता को अकेले उस वन में छोड़ना नहीं चाहते थे। लेकिन सीता के बार-बार कहने पर वे जाने को लाचार हो उठते हैं। लेकिन जाते समय सीता को एक मुट्ठी राई के दाने दे जाते हैं और कहते हैं अगर कोई मुसीबत आए तो राई का एक दाना सामने वाले पर फेंक देना वह एक घंटा बेहोश हो जाएगा।

आदिवासियों के टोने-टोटके होते हैं सो कहानी इस टोटके से चलती है। इतने में रावण आता है और डरी हुई सीता राई का एक दाना उस पर फेंक देती है। रावण एक घंटा बेहोश हो जाता है। फिर होश में आ जाता है। तो सीता राई का एक दाना फिर उस पर फेंक देती है फिर वह एक घंटे के बाद होश में आ जाता है।

एक मुट्ठी राई के दाने बहुत होते हैं जो बहुत सोच-समझकर लक्ष्मण ने सीता को दिए थे।

यहां रावण एक चाल चलता है। सीता से कहता है तू सारे दाने एक ही बार में मेरे ऊपर क्यों नही फेंक देती ताकि मैं एक ही बार में जलकर भस्म हो जाऊं।

घबराई हुई सीता एक बात भूल जाती है कि टोने-टोटके में गिनती का सवाल नहीं होता, दाना फेंकने की क्रिया का सवाल होता है। एक दाना भी उतना ही असर रखता है जितना मुट्ठीभर दाने। सीता इस बात को समझ नहीं पाती और सारे दाने एक साथ रावण पर फेंक देती है।

सारे दाने एक साथ फेंकने से फेंकने की एक बार की क्रिया के कारण रावण फिर एक घंटा बेहोश रहता है। होश में आने पर चूंकि सीता के पास अब बचाव के कोई दाने नहीं बचते इसलिए उसका जबरदस्ती हरण करके ले जाता है।

आदिवासियों की कहानी के अनुसार हनुमान भी एक आदिवासी जनजाति का था जिसने जनजातियों की मदद से राम को रावण पर विजय दिलाई। इसीलिए आदिवासी जहां भी राम का मंदिर बनाते हैं, उसके सामने हनुमान का मंदिर अवश्य बनाते हैं।

इस लोक कहानी में राम जब रावण को मारकर सीता को लेकर अयोध्या लौटते हैं तो कैकयी को शर्म से एक कोने में दुबककर बैठी देखकर, उसे आदरपूर्वक प्रणाम करते हुए पूछते हैं—

"हे मां! मैंने तुम्हारे ही प्रताप से सारे जगत को जीता। लेकिन तुम चुप क्यों बैठी हो।"

कैकेयी कहती है—"हे राम! मेरा यह कलंक कैसे छूटेगा। जब तक तुम मेरी कोख से जनम नहीं लोगे मेरा यह कलंक छूटनेवाला नहीं है।"

इस पर राम कहते हैं, बस इतनी सी बात! तो सुनो, द्वापर में तुम देवकी बनोगी और मैं तुम्हारी कोख से जन्म लेकर तुम्हारा बेटा कृष्ण बनूंगा....।

लेकिन इसी बीच राम की आंखों में सारा दुख दर्द घिर आता है और वे कहते हैं, "मैं तुम्हारी कोख से जन्म अवश्य लूंगा पर तुम्हारा दूध नहीं पीऊंगा।" एक मां के लिए इससे बढ़कर चोट और क्या हो सकती है....।

और इस तरह यह कहानी युगों-युगों से चली आ रही है....।

रामनारायण उपाध्याय बड़े दिलवाले हैं, जिस प्रकार वे अपनी कथनी और करनी में उतार देते हैं, उसी प्रकार वे लोकगीतों और लोककथाओं के अंतःकरण में हाथ डालकर लोक आत्मा को छू लेते हैं।....

जिस एक लोकगीत ने रामनारायणजी की प्राणशक्ति को जगाया था वह उनके घर के सामने से निकलती स्त्रियों के द्वारा गाया जाने वाला एक लोकगीत था। गीत के बोल थे—

"शुक्र को तारो रे ईश्वर उगी रह्यो
तेकी मखड टोकी घड़ाव।"

"हे प्रिय, यह जो आकाश में सबसे तेजस्वी शुक्र का तारा चमक रहा है न? इसकी मुझे बिंदी घड़वा दो।"

गीत की इस एक पंक्ति पर वे मुग्ध रह गए और सोचने लगे कि जिन्होंने शिक्षा के नाम पर एक अक्षर नहीं पढ़ा, और यात्रा के नाम पर जिले की सीमा नहीं लांघी उनके पास कैसी उदात्त कल्पनाएं हैं, जो शुक्र के तारे की बिंदी घड़वा देने की मांग कर रही है....

और यही वह घड़ी थी, जब से रामनारायण, घाटी में सोए रंगों को जगाने लगे....

नज़्मों और आंसुओं से भीगी हुई एक रात

जब मैं उजबेकिस्तान गई थी, तो जिस राइटरज़ यूनियन ने मुझे दावतनामा दिया था, उन्होंने जिस व्यक्ति को मुतर्जिम के तौर पर रोज सुबह से शाम तक, मेरे साथ रहने के लिए कहा, उसका नाम नबी जान था। वह वहां की कई ज़बानों की जानकारी रखते थे, साथ ही अंग्रेजी और उर्दू के भी अच्छे जानकार थे। मैं जहां जितना कुछ कह पाई, और वहां के शायरों के कलाम से वाकिफ हुई, वो सब नबी जान की मदद से हुआ....

जब वहां से ताजिकस्तान जाना था, तो मेरे कहने पर नबी जान को मेरे साथ भेज दिया गया। फिर जब मास्को जाना था, और जहां नबी जान का मेरे साथ जाना मुमकिन नहीं था, लेकिन मेरे इसरार करने पर, मास्को से खासतौर पर इजाज़त ली गई कि नबी जान को भी साथ भेज दिया जाए। वहां से अज़रबाईजान भी जाना हुआ, और वहां भी उन्हें मेरे साथ भेज दिया गया। वो इतने खुश मिज़ाज और कई भाषाओं में इतने माहिर थे कि जहां जरूरत होती, बातचीत तो क्या, वो मेरी नज़्में तक भी जल्दी से तर्जुमा कर देते....

मैं वहां ताशकंद में अपनी दोस्त जुलफियां खानम के पास ठहरी थी। वहां नबी जान रोज सुबह आ जाते और शाम तक साथ रहते।

एक शाम जुलफियां खानम किसी गुजरे हुए वक्त की उजबेक औरतों का कलाम सुनाने लगी, तो पास नबी जान थे, जो मेरे लिए उनका तर्जुमा करते रहे, और मैं उनकी मदद से किसी गए वक्त की शायर औरतों का कलाम समझ पाई, और कई शेयर थे, जो अपने काग़ज़ों पर उतारती रही....

पिछली सदी में हुई एक शायरा नादिरा की नज़्म थी

मेरे दोस्त!
मुझे अपने पास आने दे
अगर कोई बहाना तलाशता है
तो मेरे से दोस्ती का सलीका ले जा!



कारखानेदार, जुलफ़िया और अमृता प्रीतम

तुम्हें हक है—
हम इश्क वालों को मारने का
इसलिए जफ़ा का तीर पकड़ ले
और मेरी छाती में उतार दे!

उसी सदी की एक महिज़ूना हुई थीं—जिसे एक समकालीन फज़ली ने कहा था—

मैंने तुम्हें देखा नहीं
पर तेरी आवाज़ सुनी है
तू उस आईने की किस्मत नहीं जानती
जिसने तेरा जमाल नहीं देखा....
काग़ज़ भी एक आईना है—जिसमें
तुम्हारे दिल का हुस्न मैंने देख लिया है....

और महिज़ूना का वो शेयर भी मिलता है जो उसने फज़ली को जवाब में लिखा था—

लफ्ज़ों में जमाल नहीं आता
जब तक दिल की आग न जले....

कहते हैं उस पर फज़ली ने फिर लिखा—

तेरे सुखन की खूबसूरती को
यह नकाबपोशी मुबारिक हो
शायद तेरा जमाल
मैं झेल नहीं पाऊंगा....

कहते हैं—महिज़ूना ने फिर लिखा—

अगर आकाश पर सूरज नहीं आता
तो धरती पर कुछ भी नहीं उगता

यह बातचीत जिस तरह फज़ली ने और महिज़ूना ने काग़ज़ों पर उतार दी थी, उस सदी ने संभालकर रख ली थी। कहते हैं—फज़ली ने फिर लिखा—

अरी सुखन वाली
तेरा राहबर कौन था?
किसी सूरज के बिना
चांद नहीं चमकता....

और महिज़ूना ने एक गहरा सांस लेकर लिखा था—

जिस तरह छोटी नदियां मिलकर
एक बड़ा सा दरिया बन जाती हैं

जहां सबज पन्ने भी मिलते हैं, सफ़ेद मोती भी
उसी तरह मेरे सारे दर्द मिल गए
तो दरिया की तरह मेरा दिल बन गया....
जहां से अब सुखन मिलते हैं....

मुझे लगा—वह बहुत प्यारी सदी होगी, जिसने यह सुखन सुने और उन्हें संभाल लिया—

फिर नादिरा का एक और शेयर मिला—

फूल खिल गए।
बुलबुल! अब अपनी खामोशी तोड़ दे!
अगर तेरे पास गीत नहीं हैं
तो इस नादिरा के कलाम से
फरियाद ले जा।

और जुलफिया ने कुछ किताबें टटोलकर उसी काल में हुई एक उवैसी का शेयर पढ़ा—

अगर सजदे में तेरा सिर नहीं झुकता
तो जाहिद! तू काफिर हो जा
मैं तेरी ज़फा से घबराकर
किसी और की तरफ़ नहीं देख सकती....

और जुलफिया ये सब नज़्में कहते-कहते अपने पास लौट आई और उसने अपने हरफ़ अपनी आवाज़ को दे दिए—

हुसीना!
बहार के फूलों की तेरी आंखें
लेकिन इन फूलों से
किसी के इंतज़ार की खुशबू आती है....

और जुलफिया भरी आंखों से कहती गई—

तेरी आंखें राहों पर लगी हैं
किसी के वायदे से बंधी हुईं....
लेकिन इस धरती के कड़े वायदे
तेरे पैरों की बेड़ियां बनते गए....

जुलफिया कह रही थी—

तेरे होठों का रंग, दिल के ख़ून जैसा
और रंगों में एक मुहब्बत बह रही
लेकिन उस दर्द का क्या होगा

जो तूने दिल में छिपा लिया....
इतना–
कि किसी शिकवे का धुआं नहीं उठने दिया....
वो कौन था?
अच्छा मैं उसका नाम नहीं पूछती
तेरी ज़बान जलने लगेगी....

और उस रात, जब नबी जान चले गए, तो जुलफिया ने आहिस्ता से मुझे उसका नाम बताया–और खामोश हो गई....

मुझे लगा–जाने कब से मेरा और जुलफिया का एक रिश्ता था, जो आंसुओं की पहचान से ही बना था और खामोशी की पहचान से भी....

ख़ाबीदा हुसीना

एक रोज़ जुलफिया खानम मुझे फरगाना वादी ले गईं, जहां झिलमिलाते रंगों की अतलस बुनी जाती है। और कहते हैं कि वहां इतनी अतलस बुनी जाती है कि उसका एक सिरा जमीन पर रखें तो दूसरा चांद तक पहुंच जाता है....

पता चला—इस वादी का नाम कभी ख़ाबीदा हुसीना था। ख़ाबीदा हुसीना का अर्थ होता है—सोई हुई सुंदरी। फिर जब इस वादी में अतलस बुनी जाने लगी, तो सोई हुई सुंदरी जैसे जाग उठी, इसलिए उसे फरगाना वादी कहा जाने लगा—

वहां दो मिलों की डायरेक्टर दो औरतें थीं। उन्हें मेरे और जुलफिया के आने की खबर दे दी गई थी, साथ ही मेरी कुछ नज़्में भी, जो उजबेक ज़बान में प्रकाशित हुई थीं। इसलिए जब हम दोनों वहां पहुंचीं तो उन डायरेक्टर औरतों ने बहुत प्यार से कहा—"अमृता! आज हम तेरे नगमों के पैरों तले अतलस बिछा देंगीं"—और उन्होंने अतलस के कितने ही तोहफे मुझे भी दिए, जुलफिया को भी....

उनका शुकरिया करने के लिए मैंने वहीं दो पंक्तियां लिखीं, और उनके रजिस्टर में उतार दीं—

अतलस बुनती हुई हुसीना
अब मुरादों का वक्त आया है
सुपने बुनती हुई दोशीजा!
तू अपनी पिटारी में
मेरी लाख दुआएं रख ले!

नबी जान साथ थे, इसलिए मेरी दुआ भी तर्जुमा कर दी गई, और बातचीत भी आराम से होती रही....

पंजाब में एक गीत गाया जाता है कि—"मैं तेरे पैरों के लिए मखमल का जूता बनाऊंगी और तेरे पहनने के लिए अतलस का जामा...." लगा—कभी वक्त होगा जब पंजाब ने अतलस देखी होगी, लेकिन अब वहां किसी ने अतलस का नाम नहीं सुना था। सुना था तो सिफ एक लोक गीत में....



मुतर्ज़म, अमृता प्रीतम और जुलफ़िया

वहां फरगाना वादी में कुछ सोपान हैं, यानि आरामगाहों, और उस शाम एक सोपान में, वहां की शायर औरतों ने एक दावत रखी। दस्तरखान पर कोनी आक, शहद, अनारों का रस, और कई तरह के पकवान रखते हुए एक शायरा ने कहा—'मेरे देश की मेहमान! बोल मैं तेरे लिए क्या गाऊं? मैंने प्यार से उसका हाथ अपने हाथ में लिया और कहा—दोस्त अपनी वादी का कोई ऐसा गीत गाओ जो कोनी आक की तरह तल्ख़ हो, शहद की तरह मीठा, और अनारों के रस की तरह सुर्ख....

वो बोली—और भेड़ के गोश्त की तरह भुना हुआ आशकी गीत....

मैं हंस दी! लगा शायद खुदा ने जन्नत बनाने के वक्त इस वादी को देख लिया होगा—और इसके गीत सुन लिये होंगे....

फिर एक प्यारी सी आवाज़ थी, जो हवा की तरह उस अदन बाग में गाने लगी—

इश्क का जनून मेरे सिर में....
जुल्फ़ें तेरे माथे पर लहराती
कोई मेरे महबूब से कह दे!
कि मेरी छाती में एक आग जलती है,
और वो आकर अपने हाथ ताप ले!
मेरे होठों में शहद भरा हुआ
मेरे दिलदार से कहना—
वो आकर यह शहद पी ले!

उस वादी की एक और शायरा थी—लाला खानुम! उसने कितने ही गीत दस्तरखान पर फूलों की तरह बिछा दिए—

मेरा दिल तुम्हें एक फूल देना चाहता है
लेकिन आजकल बागों में फूल नहीं खिलता
मेरे पैर तेरी नगरी से कहीं चले जाना चाहते हैं
लेकिन मेरे पैरों को जाने का रास्ता नहीं मिलता
मैं उस झील की बतख हूं
मेरा महबूब न मिला
तो मैं इसी झील में डूब जाऊंगी....
तू मेरे आसमान का तारा
मेरे बागों का गुलाब
मेरे फूलों का बुलबुल
मेरे दिल का नगमा
अरे काली आंखों वाले

अब इतना नाज न करो
मेरे पास आओ!

और लाला खानम हंसती हुई और मेरी बांहों में लिपटती हुई कहने लगी–

मेरे देश की मेहमान
यह हमारे माथे का नसीब
कि हमने तुम्हें तलाश लिया....

मैंने प्यार से कहा–एक वक्त था, जब मैंने एक गीत लिखा था कि जिंदगी ने मुझे अपने घर बुलाया था, और फिर मेहमान निवाज़ी करना भूल गई....लेकिन आज मैं यह शिकवा वापिस लेती हूं....

उस श्रीपान के पास ही एक पहाड़ी नदी बहती है, जिसे शाहे मरदाना कहते हैं। लाला खानम ने कहा–चलो अमृता! जिंदगी में जो भी शिकवे हैं, हम उन्हें उस नदी में बहा आएं....

मैंने पूछा–लाला! तुम इतनी मुहब्बत से भरी हुई हो, जैसे मुहब्बत ने तुम्हें तराशा हो! लेकिन कहो कि कोई शिकवा कभी तेरे होठों पर नहीं आया?

लाला कहने लगी–बहुत शिकवे हैं, उन पत्थरों की तरह, जो इस नदी में खामोश पड़े हैं, लेकिन वह नदी है कि उन पत्थरों पर भी बहती रहती है....मैंने भी मुहब्बत की थी किसी को....

मैंने पूछा....फिर क्या हुआ?

वो कहने लगी–मेरी वो मुहब्बत मेरे मां बाप को मंजूर नहीं हुई....कभी-कभी सोचती हूं, मैं कोई गीत न गाया करूं, अब शायद मुझे गाने का हक नहीं है, लेकिन क्या करूं गीत मेरी छाती के उग आते हैं....

और लाला खानम दीवानी सी आवाज में गाने लगी–

मैं तुझे तलाशती हूं–
अपना दिल देने के लिए
और अपनी जान देने के लिए
तेरा खंजर तलाशती हूं....

लगा–हर मुहब्बत करने वाला, सचमुच रेशम का वो कीड़ा होता है, जो शहतूत के पत्ते खाकर रेशम के तार बुनता है....इस वादी की अतलस की तरह....

वरज़आब के किनारे

मैंने ताशकंद से ताजिकस्तान जाना था! जुलफिया साथ नहीं जा सकी, इसलिए नबी जान को लेकर मैंने अकेले जाना था। गई, और जब हवाई जहाज़ ने पंखों में उड़ान भर ली, तो ख्याल आया—एक रात जुलफिया ने बताया था कि कभी ताजिकस्तान से ताशकंद लौटते हुए, उसने हवाई-जहाज़ में एक नज़्म लिखी थी, वो नज़्म अंग्रेजी में तर्जुमा हो चुकी थी, इसलिए उसने मुझे नज्म की कापी भी दी थी....

उस वक्त मैंने अपने काग़ज़ों को देखा, पाया कि वो नज़्म उस वक्त भी मेरे पास थी। मैंने हंसकर नज़्म की ओर देखा, मन में कहा—देखो जुलफिया, जिस जहाज़ में बैठे तूने यह नज़्म लिखी थी, मैं उसी जहाज़ में बैठकर उसका तर्जुमा करती हूं—

वो नज़्म थी—
सांझ की लाली में—
तेरा बदन भीगा हुआ—
मैंने नज़र भर के देखा—
और 'कुछ' आंखों में संभाल लिया....
यह तेरा मरमरी बदन
एक गीत सा गुनगुनाता....
सामने आसमान पर
तेज हवा बहने लगी
चांद बावरा सा हो गया
और जुलफ़ें बिखर गई....
देख! मैं जीती हूं—
गीतों में बसती हूं
अफसानों में बोलती हूं
धरती का द्वार खोलती हूं

आज इस जहाज़ ने—
अंबर के पैरों में पायल डाल दी
और तेरे हुस्न ने—
मेरी तकदीर के माथे पर
एक झूमर लगा दिया....

वहां स्तालिनाबाद के एयर पोर्ट पर बहुत से ताजिक शायर और लेखक मुझे लेने के लिए आए हुए थे, बारी बारी मैं उन्हें मिलती मिर्ज़ा तुरसन जादे के पास पहुंची, जो वहां के सबसे बड़े ताजिक शायर कहे जाते थे और उन्हें आहिस्ता से कहा—

'एक सलाम तो मेरा है, और एक सलाम की मैं कासद हूं, वो सलाम जुलफिया का है। फैज़ के लफ्ज़ों में—'शायर सलाम लिखता है तेरे हुस्न के नाम।'

मिर्ज़ा ने एक नज़र आसमान की ओर देखा, फिर हंसने लगे—''एक जुलफिया का सलाम, दूसरा फैज़ के लफ्ज़ों में और तीसरा ऐसी कासद के हाथों, अब मेरा क्या होगा?

वहां होटल में ठहरना था, और वे लोग जब मुझे वहां छोड़कर जाने लगे, तो मिर्ज़ा ने कहा—थोड़ा आराम कर लो, फिर हम बहुत से शायर लोग, यहां से कोई बीस मील दूर कानदरा में जाएंगे....वहीं कुछ पकाना खाना होगा, और नदी के पुल पर बैठकर शायरी की बातें करेंगे....

वरज़आब नदी के किनारे एक लेखक घर बना हुआ है, जहां सात छोटे कमरे हैं रहने के लिए, और आठवां बड़ा सा हॉल, जिसमें बड़ी सी मेज लगी रहती है....

टीन की एक छत के नीचे तीन चूल्हे बने रहते हैं, और पास एक कोठरी में बड़े-बड़े बर्तन रखे रहते हैं....

वो शाम, दिल में कहीं गहरे में, उतर जाने वाली थी। अमन के, दोस्ती के और शायरी के नाम जाम भरते हुए मिर्ज़ा ने कहा—'आज नगमों के पंख लेकर तुमने ये पर्वत चीर लिये। मैंने भी कभी पर्वतों से कहा था तुम रास्ते में तनकर खड़े रहो, मेरा सलाम तुम्हारे ऊपर से गुजर जाएगा....

पास ही एक और मकबूल शायर बैठे थे, गुफ़ार मिर्ज़ा वे कहने लगे—दिल की मुट्ठी में लाखों दोस्तियां समा सकती हैं, लेकिन इतने बड़े आसमान में एक भी दुश्मन की उड़ान नहीं समा सकती....

दूर कहीं किसी पहाड़ की कटाई हो रही थी, वहां से कभी-कभी बारूद की आवाज़ जोर से उठती थी। तुरसन ज़ादे कहने लगे—'पहाड़ का दिल कितना भी पत्थर का हो वो उसे सीने में नहीं संभाल सकता, लेकिन आशिक का दिल कितना

भी दर्द से भरा हो, हिज़र की आग को संभाल लेता है....

सभी शायर हंसने लगे—अच्छा जितना भर हम लोग नहीं संभाल सके, और जिन्हें नज़्मों को दे दिया, अब वे नज़्में पढ़ते हैं....''

सबसे पहले मिर्जा तुरसन जादे ने नज़्म पढ़ी—

देख मेरी उज़्बेक सुंदरी!
तेरा शौक तेरा इल्हाम बन गया....
मैं तेरे देश को सजदा करता हूं!
अगर मैं 'रोदगी' होता
जो लाजवाब शायर था
तेरे हुस्न का नगमा ठीक से लिख पाता
तेरे पाक दिल का विरद गाता
जिसका एक एक मिसरा—
तेरे हुस्न के बराबर होता....

मिर्ज़ा तुरसन ज़ादे की नज़्म में हम सब खोए हुए थे कि पास बैठे बाकी रहीम ने कहा—'अपने दिल की बहार को कायम रखने के लिए मैंने बुजुर्ग उमर में भी इश्क किया है और नज़्म लिखी है—चांदी की रात....

मिर्जा हंस दिए, कहने लगे—'अमृता उसके जिस्म का मोटापा देखकर यह न सोचना कि उसके पास नज़ाकत नहीं है। उसके शेयरों में नाजुक ख्याली होती हैं....

पास निआज़ी बैठे थे, बेचारी सी आवाज़ में बोले—

'अब मैं क्या कहूं। जिंदगी भर नॉवल लिखता रहा, नाम तो कमा लिया, पर कहने को मेरे पास एक भी मिसरा नहीं—

मिर्ज़ा तुरसन जादे ने प्यार से कहा—'अमृता एक कहानी सुना! एक बार किसी ने मिट्टी की चुटकी भरी, तो देखा बहुत खुशबू है उसमें। मिट्टी से पूछा—महक तो फूलों से आती है, तुममें कैसे आई? वो कहने लगी—गुलाब की एक झाड़ी मेरे छाती पर खिली थी। इस तरह यह निआज़ी है, इसमें भी नज़्म की महक आने लगी है, आज शायरों के पास बैठा है न इसलिए....''

फिर सब शायर एक ताजिक लोक गीत गाने लगे—

फूलों के इस आंगन में
एक तुम हो, एक मैं,
और शराब का एक प्याला
सारा ज़माना खिल गया—
देखो! बंद कलियों की एक ही पोशाक होती है

बदन के रंग अलग-अलग हों....
शायर कितने भी हों–
शायरी का रंग एक होता है....
मुहब्बत का रंग एक होता है....

लगा ताजिक शायरों के गीत सुनकर, आसमान का दिल पिघल गया था, हल्की-हल्की बारिश पड़ने लगी....

किसी ने कहा–'हम दोस्ती के बीज बो रहे हैं, इसलिए बादल पानी देने आ गया....''

मिर्ज़ा कहने लगे–अमृता! एक शेयर कह दो!

मैंने कहा–'माना ये बीज हैं, एक नामुराद इश्क के, पर बीज आख़िर बीज हैं, अब कौन जाने कि कब कहां खिलने लगें....''

फिर हवा में एक ताजिक लोक गीत लहरा गया–

मैं राख सा दिखाई देता हूं
पर एक आग है, जो राख में पड़ी है
मेरा एक ही गुनाह
कि मैंने तुम्हें प्यार किया
और अब उस आग को–
राख में लिये लिये फिरता हूं....

बादल गरजने लगे। किसी ने कहा–बिछुड़ने की बेला आ रही है, इसलिए आसमान रोने लगा....

और किसी ने कहा–''पंजाब और वरज़आब आशकों के देश हैं, इसीलिए इनका काफिया मिल गया....''

आठ सदियों की एक महफ़िल

जब मैं अज़रबाईजान गई, उसकी राजधानी बाकू को देखती रह गई। एक तरफ़ समुद्र बहता है, और उसी के किनारे एक बड़ा-सा पर्वत है—जहां शहर बसा हुआ है...

उस शहर में पहली बार एक औरत का बुत देखा, पता चला कि यह नातवां का बुत है, जो उन्नीसवीं सदी की एक बहुत बड़ी शायरा हुई थी....

वहीं किसी चौराहे पर अपना पर्दा उतारती एक औरत का बुत है, जो जाने कितनी सदियों के बाद, खुली जिंदगी में शामिल हो जाने का प्रतीक है....

और एक चौराहे पर औरत का एक और बुत देखा, जिसने अपने कंधे पर अपना छोटा-सा बच्चा उठाया हुआ है, और दूसरे हाथ में दुनिया के अमन की प्रतीक एक फ़ाख्ता को लिये हुए है....

वहां बहुत सी शायर औरतों से मिलना हुआ, फिर जब वक्त के माने हुए शायर रसूल रज़ा के घर में एक दावत रखी गई, वहां कुछ करीब से शायर लोगों को सुनना भी हुआ....

मेज़ पर अंगूर के पत्तों में पके हुए पकवान थे....

रसूल रज़ा ने पहला जाम अपनी मां के नाम उठाया, कहा 'मेरी मां कुछ लिखना पढ़ना नहीं जानती थी, लेकिन अंजीर का और सेब का मुरब्बा बनाती, अक्सर अपने शेयर गाया करती थी, और कई बार मेरा बाप काग़ज़ कलम लेकर शेयर कागजों पर लिखने लगता था....

मैंने जब उन्हें विरासत में मिली शायरी के लिए मुबारिकबाद दी, तो रसूल रज़ा कहने लगे—'देखिए! मेरी किस्मत, कि जब मेरी शादी नहीं हुई थी, मैं शायर नहीं था, तनकीद लिखता था, लेकिन जब इस निगार ख़ानम से मेरी शादी हुई, यह शेयर कहती थी, और अब वक्त ने जाने कैसी करवट ले ली है कि मैं शेयर कहता हूं, और मेरी बीवी मेरी तनकीद करती है....''

वहां बैठे शायर हंसने लगे तो एक अज़री शायर तैमूर ने कहा—''आज कहीं जुलफिया भी यहां होती....'' और जुलफिया की गैर-हाज़िरी को भरने के लिए एक



मीरवारद ख़ानम और अमृता प्रीतम

अज़री शायरा मिरवारद खानम दिलबाजी ने कहा, "मैं एक नज़्म यहां करती हूं, जो जुलफिया के नाम पर लिखी थी–

उज़बेक सुंदरी!
सूरज के जाते समय तूने जो गीत लिखे
और लिखती गई–
देख! सूरज रात का अंधेरा चीरकर
फिर आ गया है–
और रात भर तूने–
सूरज की गैर हाजिरी महसूस नहीं होने दी....

मैंने कहा–जिस तरह जुलफिया ने रात को सूरज की गैर हाजिरी महसूस नहीं होने दी थी, उसी तरह आज हम उसकी गैर-हाजिरी को महसूस नहीं होने देंगे–और मैंने वो चार पंक्तियां कहीं, जो जुलफिया की मुहब्बत में लिखी थी–

जैसे देर से बिछुड़ी हुई कलम
काग़ज़ के गले मिलती है–
तो इश्क का राज खुलता है....
जुलफिया–एक पंक्ति उज़बेक की
मैं एक पंक्ति–पंजाब की

फिर भी मुहब्बत के गीत का काफिया मिलता है और वहां बैठी निगार ख़ानम, मिरवारद ख़ानम और मेरे साथ जुलफिया की हाज़री को भी मानते हुए, तैमूर ने जाम उठाया, "मैं यहां बैठी चार औरतों के नाम जाम पीता हूं–जिनकी कलम जाने कितने रंगों में रंगी हुई है...."

वहां संगीतकार आरिफ भी थे, जो अब साइंस दान है, लेकिन संगीत फिर भी उनकी रगों में है, इसलिए ख्वाब उठा लाए, और पास बैठे एक शायर ने बख़त्यार बहाव ज्यादा अपनी एक नज़्म गाने लगे–

क्या गुलाब खिल सकता?
अगर उसे किसी बुलबुल का गीत न छू जाता?

और वो हंसते हुए कहने लगे–"अब हम सारे गुलाब यहां बैठी चार बुलबुलों के नाम जाम पीते हैं...."

वहां मदीना गुलगुल नहीं थी, लेकिन जब कल मुझे मिली थी तो भरी-भरी आंखों से मेरे गले मिलती कहने लगी थी–बहुत से शेयर लिखती हूं, लेकिन आंखों के पानी में डूबते हुए...."

मैंने उसकी बात की, तो पता चला कि अज़रबाईजान का जो कुछ इलाक़ा अब ईरान के पास है, मदीना वहां की रहने वाली थी, लेकिन हमलावरों की वज़ा से उसे अपना घर छोड़ना पड़ा।



मीरवारद ख़ानम, अमृता प्रीतम और निगार ख़ानम

यह कहते हुए किसी ने कहा—'अमृता! तुम उसका दर्द समझ सकती हो, तूने अपने देश को तकसीम होते देखा है, और अपना घर छोड़ते हुए भी लाखों लोग देखे हैं....''

रसूल रज़ा ने कहा—''अब तो आज की पांच शायरा हो गई, जिन्होंने मिलकर यहां पंजाब बना दिया। मैं पंजाब के पास दरियाओं के नाम जाम पीता हूं....

आरिफ के हाथ में रबाब थी, और मेरे मुतर्जिम नबी जान कहने लगे—''मैं पूरे हिंदुस्तान की खैरियत के नाम जाम पीता हूं! और यह कहते-कहते भारतीय गीत गाने लगे—

सूरज अस्त हो गया
गगन मस्त हो गया....

'ठहरिए! आप लोग तो गाने में मस्त हो जाएंगे। पास बैठी मिरवारद ख़ानम ने कहा—''मैं पहले अपनी नज़्म कह लूं, जो मैंने रात को लिखी थी, अमृता के लिए, इस देश की मेहमान के लिए....'

और मिरवारद नज़्म कहने लगी—

दिल का सूरज इस तरह आया
जैसे धूप में नहाकर आया हो
जैसे बैजू ने एक नग़मा छेड़ दिया
तेरी आवाज़ इस तरह—
जैसे गंगा की लहर हो
तेरा हुस्न एक तारे की तरह
जहां मेरी मुहब्बत गाने लगी....
यह छलकते हुए दिलों की रात थी....

सबने उस सूरज के नाम जाम उठाए, जो जाने कितने बादलों को चीरता हुआ आंखों में भी चमकने लगता है, दिल में भी....

और निगार ख़ानम ने कहा—बीसवीं सदी की इस महफिल में, मैं महस्ती गंजवी का एक शेयर पढ़ती हूं, जो आज से आठ सदियां पहले हुई थी—

बुत प्रस्ती अच्छी, अगर तुम बुत हो!
नशयी होना मंजूर—
अगर तुम होठों से शराब पिला दो!
बेखुदी अच्छी
अगर मैं तेरी दहलीज़ पर अपना होश खो दूं....

यह आठ सदियों की महफिल जब भी याद आती है तो मेरे सांस कुछ दीवाने से होने लगते हैं....

अक्षर लीला

कोई किसी भी काल में क्यों न हुआ हो, लेकिन जिनके अक्षरों की महक मेरे मन में बस गई, मैं जिंदगी भर उनका जिक्र करती रही। मेरी नज़र में—ये जिक्र करना अक्षरों के पीपल को पानी देना है....

एक प्राचीन गाथा चली आती है कि एक कोई दरवेश किसी गांव में हुआ था, लोग आते-जाते एक नज़र उसे ज़रूर देखना चाहते। उसके अंतर में जाने क्या ख़िला हुआ था कि देखने वाले में एक शांति सी उतर जाती। लोग उसे अज़मत वाला कहने लगे थे....

वक्त पाकर वो अज़मतवाला इस दुनिया से चला गया तो गांव के कुछ लोगों ने मिलकर, जहां उसकी एक झोंपड़ी सी थी, वहां एक पक्का ऊंचा चौंतरा बनवा दिया। और उसकी याद में गांव का एक बुज़ुर्ग रात को वहां दिया जला देता था।

फिर जब वो बुज़ुर्ग भी नहीं रहा तो गांव की एक भली सी औरत थी जो वहां रोज दिया जलाने लगी....

कहते हैं कई साल गुज़र गए तो एक बार उस अज़मत वाले की आत्मा ने उस भली औरत के माथे पर हाथ रखा, कहा नेकबख्त तेरा भला हो!

उस वक्त उस भोली सी औरत ने कहा—साईं! मैंने तो कुछ नहीं किया, न तिलों से तेल निकाला, न कुम्हार के चाक पर बैठी दीया गढ़ने के लिए, न मैंने कपास चुनी दीए की बाती बनाने के लिए, न कहीं पत्थरों से आग की चिंगारी मांगने के लिए गई, वो सब तो पहले ही था, मैंने तो सब उनसे लेकर यहां आने लगी अपनी रूह राज़ी करने के लिए....

बस यही बात थी जो मेरे साथ हुई, मैं अपनी रूह राज़ी करने के लिए, सारी उम्र अक्षरों का जिक्र करती रही, जो अल्लाह वालों ने जाने कब-कब इस धरती को दिए थे....और वही अक्षर मेरे अंतर में एक लीला रचाते हैं।

मैं अपने ख्यालों के सदके

किसी दूसरे की हस्ती में अपना केंद्र बनाकर किसी पर फ़िदा होने वाले शायर बहुत होते हैं, वक्त को दर्द के कई शाहकार भी दे जाते हैं, लेकिन अपना केंद्र अपनी हस्ती में कायम करके, अपने अहसास की शिद्दत से अपने ख्यालों से सदके होने वाले शायर किसी-किसी काल में होते हैं....

साहिर की ये पंक्ति—'मैं अपने ख्यालों के सदके' अपनी हस्ती में बनाए अपने केंद्र के जादू में लिपटी हुई है....

ऐसा जादू जगाने के संकेत कभी-कभी सूफ़ी गाथाओं में मिलते हैं। जैसे एक गांव के बुज़ुर्गवार ने वक्त की सोच से लिया हुआ अकीदा, अपना अकीदा बना लिया कि उसने हज करने के लिए जाना है। चल दिया तो देखा रास्ता बहुत लंबा है, पैरों में जब एक कंपन सा उतरने लगा तो वो मुश्किल से कदम-कदम चलता कभी धरती की ओर देखने लगा कभी आसमान की ओर....

वहां रास्ते में उसे जुनैद मिला एक सूफ़ी दरवेश, जिसने उस बुज़ुर्ग की हालत देखी तो पास आकर पूछा—इस हालत में कहां चले हो बुज़ुर्गवार?

वो कहने लगा—मैंने हज करने के लिए जाना है, मियां बताओ रास्ता और कितना लंबा है?

सूफ़ी दरवेश कहने लगा—तुम मेरे इर्द-गिर्द सात चक्कर काट लो, तुम्हारा हज हो जाएगा....

वो बुज़ुर्ग भला था, भोला था, टूटती सी आवाज में कुछ बल आया, पूछने लगा—सच! और उसने सुख का सांस लेते हुए, जल्दी से उस दरवेश के इर्द-गिर्द सात चक्कर लगाए और खुशी से अपने गांव लौटने लगा। लेकिन चार कदम गया होगा कि उसे एक ख्याल आया और वो उस दरवेश के पास आकर पूछने लगा—मेहरबान! अगर कभी फिर भी मेरे मन में आए मैं हज करने चल पड़ूं और अगर आप रास्ते में न मिले तो क्या करूंगा?

जुनैद ने उसके कंधे पर हाथ रखा, कहा—नेक आदमी! उस वक्त तुम अपने ही इर्द-गिर्द सात चक्कर काट लेना, तुम्हारा हज हो जाएगा....

ऐसी रमज़ कोई सूफ़ी दरवेश ही पा सकता है जो किसी-किसी काल में पैदा होता है। और ये जुनैदी-रमज़ कोई-कोई शायर पा सकता है, जो साहिर की तरह कभी ही किसी काल में होता है....

मैं अपने ख्यालों के सदके, तू पास नहीं और पास भी है....

ये 'नहीं' और 'है' का वसल, वो मुकाम है, जहां निराकार के आकारमय होने वाला क्षण खड़ा है....

मांस मिट्टी की ये चेतना कभी दुनिया ने नहीं जानी। अनलहक बोल पड़ने वाली शक्ति का नाम मंसूर होता है....

एक हीर हुई थी, सदियों के स्याह बादलों में बिजली सी चमक गई और उसने कहा—रांझा-रांझा कहते मैं खुद रांझा हुई....

साहिर ने वही मुकाम देखा, कुछ बोला नहीं गया, तो आहिस्ता से कहा—मैं अपने ख्यालों के सदके....

साहिर की यह पूरी नज़्म है—

मायूस हूं तेरे वादे से
कुछ आस नहीं, कुछ आस भी है
मैं अपने ख्यालों के सदके
तू पास नहीं और पास भी है....

हमने तो खुशी मांगी थी मगर
जो तूने दिया अच्छा ही दिया
जिस ग़म का ताल्लुक़ हो तुझसे
वह रास नहीं, और रास भी है....

पलकों पे लरज़ते अश्कों में
तस्वीर झलकती है तेरी
दीदार की प्यासी आंखों को
अब प्यास नहीं और प्यास भी है....

खुदाया! मैं बहुत कड़वी हूं

जिंदगी की तल्कियां पीते-पीते जब हलक सूखने लगते हैं, तो लोग खुदा से मुराद मांगने जाते हैं। अब जितने लोग होते हैं उतनी तरह की मुरादें होती हैं....

एक वे लोग होते हैं, खुदा के तलबगार, और जब साधना करते-करते उम्र टूटने लगती है तो खुदा से दुआ मांगते हैं—खुदाया, अब तो कोई मुकाम दिखा दे जहां तेरी झलक मिलती हो....

और एक वो भी था—कोई अल्लाह वाला, कहते हैं जब वो अकेला एक पेड़ के नीचे भूखा-प्यासा पड़ा था, तो कई लोग उसके पास आए, कहने लगे—फकीर साईं! अज़मत तेरी खुदा की, तू उसकी नज़रे-करम क्यों नहीं मांगता? वो हंसने लगा, कहने लगा—"देखते नहीं कि उसने इतने चांद-सितारे मुझे दिए हैं, इतने दरिया, चश्मे, पहाड़, पेड़, फूल कि मैं पहले ही इतने भार से दबा जाता हूं। और अब मेरे बदन की झोली भी फटने लगी है, इन सब निआमतों को झोली में डाले हुए। अब उसकी नज़रें करम भी मांग लूं तो उसका भार कैसे झेल पाऊंगा?

और एक वो थी—सारा शिगुफ्ता, जिसने जिंदगी की सब तलकियां पी लीं, होठों पर कोई शिकवा नहीं आया, न मुराद मांगी, न दुआ मांगी, और खुदा से मुखातिब होकर कहने लगी—"खुदाया! मैं बहुत कड़वी हूं पर तेरी शराब हूं"

कड़वी लफ़्ज तो इसलिए कहा कि खुदा कहीं भूल न जाए कि वो वहीं थी, जो एक दिन उसके प्याले से छलक गई थी, बावरी लट बावरी। आज कड़वी हो गई तो जिंदगी की तलकियों ने कर दी होगी, वरना उसमें वही जायका है, जो उसके अपने हाथ में पकड़े हुए प्याले की शराब का है....

सारा की नज़्म है—

ए ख़ुदा! मैं शुरू होती हूं कोख से
और खत्म होती हूं मिट्टी पर....
ए ख़ुदा! क्या मैं तेरी ज़काह हूं?
या एक सजदा?



सारा शगुफ़्ता

ए ख़ुदा! तू मेरा इंकार है
और मैं तेरा इक़रार हूं
ए ख़ुदा! मेरे कंपन में तेरे कई रंग
गेहूं मेरे से ज़्यादा जिंदा है....
मैं नादानी से बच्चे जनती हूं
तू फ़जल से हुकम जनता है
मैं अपनी कोख से चलती–
और तेरा नाम जनती....
ए ख़ुदा! मैंने अपनी नस्ल पर
तेरा नाम लिखा है
और तूने अपनी रहमत के कई नाम रखे हैं....
ए ख़ुदा! मैं बहुत कड़वी हूं
पर तेरी शराब हूं
तू चांद की स्याही से रात लिखता है
मैं तेरी कोख में मरूंगी
और जिंदा रहूंगी....

मैं पत्तन पर पड़ी नाव रे

मैं—पत्तन पर पड़ी नाव रे, पड़ी-पड़ी डूब रही....

शिवकुमार की एक नज़्म की ये पंक्ति एक नामुराद इंतज़ार को लिये हुए, रंगों में भी डूबने लगती है, सांसों में भी....

इंसान की हय्याती का ये जाने कैसा दर्द है, जो सिर्फ़ छलकना जानता है, कुछ कहना नहीं जानता....

इस पंक्ति का एक लफ़्ज 'पड़ी' गौर करने वाला है कि नाव पड़ी है, बंधी हुई नहीं। बंधी हुई होती तो उसकी बेकसी किसी और के हाथों की मोहताज होती, जो उसे अगर बांध सकता था, तो खोल भी सकता था। लेकिन पड़ी लफ़्ज में कोई दूसरा नहीं है, बस वो पड़ी है। इसका कारण शायद अचेतन मन जानता है, पर चेतन मन नहीं जानता....

तैरना या डूबना—तो बहते पानी में बहती नाव की तकदीर है, लेकिन यहां वो नाव पड़ी-पड़ी डूब रही है—शायद बहती नदी में जाने की एक नामुराद तमन्ना लिये हुए....

लगता है—बहती नदी के पानी में जाकर बहना, डोलना, और अपनी बाहों में किसी मांझी को लिये हुए चलना, भीगना, उस नाव का सपना था, जो आंखों में पड़ा-पड़ा आंखों के पानी में डूबने लगा है....

एक यात्रा, एक किनारे से लेकर दूसरे किनारे तक की—नाव का सपना भी होती है और मोहब्बत करने वाले इंसान का सपना भी—जिसने स्थूल काया से लेकर सूक्ष्म काया तक की यात्रा करनी होती है....

और इस नाव को—वही यात्रा नसीब नहीं हुई....

ये अंतरमन की यात्रा 'मैं' से लेकर, 'मैं' के पार जाने तक की होती है....

और शायद ये पंक्ति कुल आलम के इंसान की हय्याती का प्रतीक हो, जो ज़िंदगी के पत्तन पर खड़ा-खड़ा बिन पानी डूब रहा है....



शिवकुमार

इंसान अंतर्यात्रा कर सकता था, लेकिन वहीं पत्तन पर बैठा, कभी अपने को राज सत्ता से शृंगार रहा है, कभी अहंकार के अलंकारों से, और कभी दौलत की चकाचौंध से—लेकिन पत्तन पर पड़े-पड़े डूबने का अंज़ाम वो नहीं देख पाता....

होने और जीने का ख़तरा तो बहते पानी में होता है, और पत्तन पर बैठा इंसान अपने को किसी ख़तरे में नहीं डालता। लेकिन नहीं जानता कि वो होने और जीने से भी महरूम हो गया है....

बहुत मुमकिन है कि शिवकुमार की ये पंक्ति उस इंसान की ओर एक संकेत हो, जो जन्म लेकर भी जीने से महरूम, एक किनारे पर पड़ा है....वो नदी के किनारे पर होते हुए भी नहीं जानता कि नदी क्या होती है, और मन का मांझी क्या होता है....

उनकी ये पूरी नज़्म है—

हम कच्चे अनारों की टहनियां
पड़ी-पड़ी झूम वे रहीं
हम जंगली हिरन की आंखें
जंगलों में जल वे रहीं
हम पत्तनों पर पड़ी नावें
पड़ी-पड़ी डूब वे रहीं
हम खांड मिस्री की डलियां
पड़ी-पड़ी गल वे रहीं
हम काले चंदन की गोलियां
पड़ी-पड़ी धुक वे रहीं
हम कच्चे घरों की दीवारें
पड़ी-पड़ी गिर वे रहीं....

पानी पर चलता सफ़ेद पंछी—काग़ज़ का टुकड़ा

कहते हैं जिनकी रगों में संगीत होता है वे जब तानपुरे के तार सुर करते हैं, तो उनकी उंगलियां सहज अपनी छाती में जाकर अपनी आत्मा के तार भी सुर में कर लेती हैं....

कह सकती हूं कि मोहनजीत को रगों में शायरी है जिसने काग़ज़ सामने रखा, हाथ में कलम पकड़ी तो उसकी आत्मा ने कलम को पीछे हटा दिया और सामने बहते पानी पर चलता हुआ एक सफ़ेद पंछी दिखाने लग गई, जो देखते-देखते काग़ज़ का टुकड़ा बन गई, और पंछी के परों पर जो पानी के कतरे थे वे अक्षर बन गए....

सखी जब पूछती है—कविता कहां है?

तो बस इतना भर कह पाता है—सामने देखो! पानी पर चलता हुआ सफ़ेद पंछी, काग़ज़ का टुकड़ा, और उस पर जलकणों के अक्षर....

शायरी की तशरीह करते-करते युग बीत गए, आगे भी बीतते रहेंगे, लेकिन ये तशरीह उस मुकाम पर पहुंच गई है, जहां कवि स्वयं ही कविता में उतरता है, और स्वयं ही किनारे पर खड़ा उसका दर्शक हो जाता है....

ऐसे मुकाम किसी-किसी दरवेश को हासिल होते हैं। जैसे कहा जात है कि स्वामी रामतीर्थ कभी मैं लफ़्ज का इस्तेमाल नहीं करते थे। मैं को सीमायुक्त करने के लिए। भूख लगती तो कहते—राम को भूख लगी है। उनके मुरीद ये जानते थे, लेकिन एक बार वे मुरीद भी देखते रह गए जब राम कहीं बाहर से आए तो हंस रहे थे। मुरीद उनके पास बैठ गए, कोई प्यारी सी बात सुनने के लिए, रामतीर्थ हंसते-हंसते कहने लगे—"आज राम को बहुत गालियां पड़ी, एक ने तो हाथ भी उठा लिया मारने के लिए। वो बेचारा देखता रह गया, और उसे देखकर हंसी आने लगी।"



अमृता और मोहनजीत

ये घटना अमरीका की थी, जहां उन दिनों रामतीर्थ गए हुए थे, और एक रास्ते पर कुछ मनचले लोग उन्हें मिल गए थे....

इस तरह किसी दरवेश के लिए अपना दर्शक हो जाने का मौका जल्दी से नहीं आता, और शायरी में तो इस मुकाम पर पहुंच जाना एक बहुत प्यारी घटना है....

ये घटना मोहनजीत के साथ घटी है, उन्होंने कविता लिखी नहीं, देखी है, सखी को दिखाई है। बाद में उसे लिखना ठीक उस घटना की तरह है, जिस तरह रामतीर्थ अपने मुरीदों को सुना रहे थे।

बात कायनात के दर्शक हो जाने की है....

कहते हैं—एक कोई संगीतकार था, उसे चाहने वाले उस पर फिदा थे। एक बार उन्होंने देखा कि हमारा संगीतकार कई दिनों से एक कंबल लिये एक चट्टान पर बैठा है। वहीं सो जाता है, वहीं जाग जाता है। लोगों ने फिक्र से पूछा तो वो कहने लगा—मैं संगीत सुन रहा हूं....

लोगों ने चारों तरफ़ देखा, कहीं कोई साज़ नहीं था, कोई आवाज़ नहीं थी...

लोग हैरान थे कि संगीतकार ने कहा—सुनो! सुनो! सामने एक चश्मा गा रहा है....हवाएं उसे सुन रही हैं, मैं भी सुन रहा हूं। किरणें भी गा रही हैं, सभी फूल पत्ते उन्हें सुन रहे हैं, मैं भी सुन रहा हूं....

लोग हंस दिए, कहने लगे—हम कुदरत की बात नहीं पूछते....

वो कहने लगा—देखो! कैसे ताल में बंधे हुए मेरे सांस चलते हैं, हाथ की नब्ज़ भी ताल में बंधी हुई है, दिल भी ताल में धड़कता है, रंगों का ख़ून भी एक लय में चलता है....

और ये जो मोहनजीत के साथ हुआ है, ये फरीद की दरवेशी है, बहुत गहरी, लेकिन उस शायर का हासिल है, जिसने दरवेशी का कण खा लिया है....

मोहनजीत की पूरी नज़्म है

कविता सखी और सफेद परिंदा

विराट नीलमाओं में तैरती
गहरी सलेटी बदली से निकलकर
चिट्टा-सफेद चमकता परिंदा
मेरे पाओं में उतरा है

ठुमक ठुमक कर चलता है रेत पर

जा रहा है सागर की ओर
शायद सागर में घोंसला है परिंदे का
या मेरी ही नकल करता चल रहा है ठुमक ठुमक कर

नजरों के क्षितिज तक दिखाई देता है समुद्री किनारा
फूलों की झाड़ियां-शिंगरफी बसंती और बैंगनी
नारियल के पेड़ों पर पक्षियों की चहचहाहट
पेड़ों में झोंपड़ी है सिरकियों की
रेत पर घर बनाते बच्चे–
इधर-उधर बिखरे शंख और सीपियां
झोंपड़ी के सामने आग जल रही है
आग के सामने मैले कुचैले वस्त्र पहने औरत खड़ी है
देखती है कोसों दूर पानी पर तैरती बेड़ी
सुनती है बंसरी की आवाज-मद्धम तेज़ मद्धम
पानी पर चलता सफेद परिंदा-सफेद काग़ज़ सा
पंखों पर पानी की बूंदें जैसे शब्द अंकित हों
यह कविता हवा और पानी ने लिखी है
मैं तो केवल पढ़ रहा हूं
सुन रहे हैं–फूल पेड़-पौधे और बांसुरी
और गर्मती के पेड़ की तरह उभरा समंदर

वो जिसने सखी बनना था–मेरे पास आई और कहने लगी :
'क्या देख रहा है?'
'कविता' मैंने कहा
'कविता कहां है?' उसने हैरानी से पूछा।

वह देख!
सफेद परिंदा, काग़ज़ का बरका, जलकणों के अक्षर
जलती आग, मल्लाह का इंतज़ार करती औरत
बांसुरी के बोल, सरकती हवा–कविता ही तो है
वो जिसने सखी बनना था कहने लगी :
'मुझे भी कविता सिखलाओ'

उसने सखी के हाथ पर हाथ रखा—हवा जरा सी कांपी
उसने गर्दन के नग्न हिस्से को छूआ—हवा में उमस सा घुला
सखी ने उसका हाथ अंग-वस्त्र में रख लिया
आंखें मिंच गईं

हवा लहरों से टकराई
पेड़ों में पंख फड़फड़ाए
झोंपड़ी में आग भभकी
मल्लाह की आवाज़ पास आई
हांडी में पक रही मच्छी
की गंध तेज़ हुई

जब दोनों को रेत की ठंडक महसूस हुई
चांद पेड़ों के ऊपर उठ आया था
सखी ने वस्त्रों से रेत झाड़ते हुए कहा :
'यह तो प्यार है!'
साजन ने अलसाए अंगों को ढीला करते हुए कहा :
'यही कविता है!'
रात गहरी हो चली थी
चांद दूसरी दिशा में जा रहा था
लहरें वापस मुड़ रही थीं
पंखों पर जलकणों की घटा लिये
सफेद परिंदा वापस जा रहा था

सखी ने साजन के कंधों से सटकर पूछा :
'कल भी आएगा सफेद परिंदा?'

मैं वहां हाज़िर नहीं था

कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं, जो एक दूसरी जैसी होते हुए भी, अलग-अलग युगों में घटित होती हैं। लेकिन उनकी आत्मा को अगर देखें तो युग का अंतर नहीं मिलता....

इसी काल की एक घटना है कि एक बार एक आदमी गुस्से में खौलता-सा बुद्ध के पास आया और बुद्ध को देखते ही गालियां देने लगा। बुद्ध ने देखा, कुछ नहीं कहा उसी तरह आसन पर बैठे रहे....

वो आदमी इतनी गालियां दे रहा था कि जो बुद्ध से प्यार करने वाले पास बैठे थे, उन्होंने उसे पकड़कर वहां से निकाल देना चाहा, लेकिन बेबस से देखते रहे, बुद्ध की आज्ञा ज़रूरी थी, कुछ कहने और करने के लिए....

गालियां देने वाला जब थक गया, जवाब में चारों तरफ खामोशी देखी, तो सर पटकता वहां से चला गया....

उसके जाने के बाद आनंद ने बुद्ध से पूछा—ये सब सुनते हमारा क्या हाल हुआ, आप जानते हैं?

बुद्ध ने कहा—हां, जानता हूं....

आनंद कहने लगा—मैं कैसे खामोश रहा, मेरा दिल जानता है....

बुद्ध ने फिर कहा—हां जानता हूं....

आनंद ने फिर कहा—लेकिन आपने इतना अपमान क्यों होने दिया।

बुद्ध ने कहा—कैसा अपमान? किसका अपमान?

आनंद हैरान था कि बुद्ध क्या कह रहे हैं? क्या उन्होंने सब सुना नहीं? कहने लगा—आपका अपमान....

बुद्ध हंस दिए, बोले—मेरा अपमान नहीं हुआ, वो तब होता, अगर मैं उसकी गालियों को कबूल लेता। मैंने तो उन्हें कबूल नहीं किया....

आनंद को तसल्ली नहीं हो रही थी, इसलिए बुद्ध ने कहा—कोई रोटी की थाली परसकर किसी के सामने रख दे, तब दूसरा वो रोटी न कबूल करे, तो उसे रोटी का असर कैसे होगा? वो तो फिर परसने वाले को ही खानी पड़ती है....

ये किसी और काल की घटना है, और ठीक इसी तरह की घटना इस काल की है कि एक फ़कीर साईं को किसी ने ज़िंदा देखकर हैरानी से पूछा—साईं! फलां जगह तो आपका कत्ल हुआ था, फिर ये क्या अज़मत है?

उस वक्त फ़कीर साईं ने कहा—मैं वहां हाज़िर नहीं था, जहां मेरा कत्ल हुआ था....

ये दोनों घटनाएं अलग-अलग युगों की हैं, लेकिन ये दोनों जब किसी के अंतर में धड़कने लगती हैं, तो युग का अंतर नहीं रहता....

हमारा एक शायर है—मिंदर। कह सकती हूं कि उसने एक टीले पर जाकर शायरी से जोग लिया था। अगर वो टीला गोरखनाथ का होता, तो जोग लेने के लिए जो आया था उसके कानों में मुंदरें डाल दी जातीं, लेकिन वो टीला शायरी का था इसलिए जोग लेने वाले की आंखों में अंतरदृष्टि डाल दी गई....

ये हमारे योगी मिंदर की अंतरदृष्टि है, जो बदनसीबों के हाथों कई कत्ल होते देखती है, और ये भी कि आत्मा का कभी कत्ल नहीं होता, वो तो कत्ल वाली जगह पर होती ही नहीं....

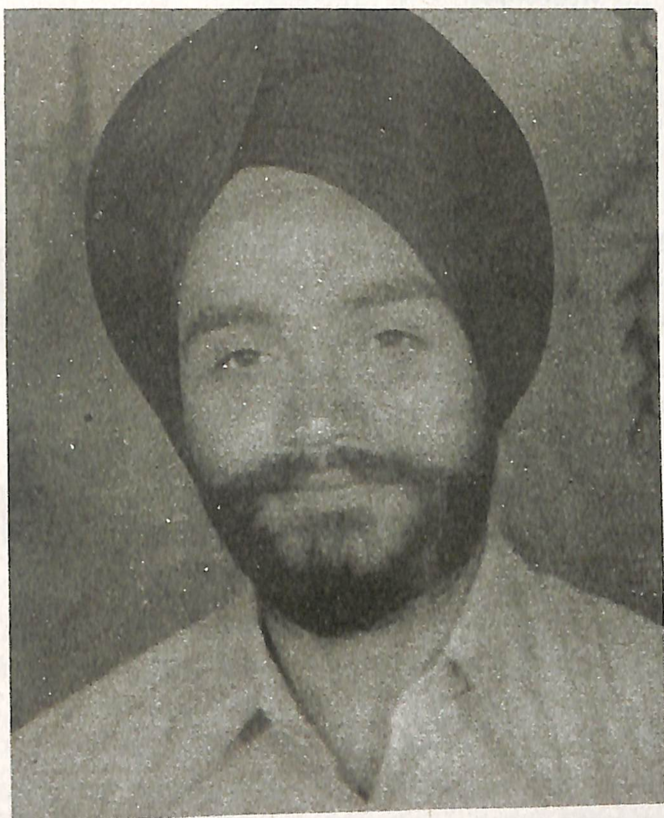
श्मशान जलते हैं, कब्रें बनती हैं, और कई तरह की साजिशें वहां गिद्धों की तरह मंडराती हैं, लेकिन जिसका कत्ल हुआ कहते हैं, वो अपने में मस्त सा कहीं दूर बैठा नज़्म लिख रहा होता है....

ये 'मैं' की वो अवस्था है जिसने अनन्त में प्रवेश कर लिया है। इसलिए मिंदर की जिंदगी और रचना मिलकर उस पानी की तरह हो गई है, जिसमें कोई लकीर नहीं पड़ सकती....

उसकी आवाज़ सुनाई देती है 'जहां मेरा अंत हुआ, मैं वहां हाज़िर नहीं था...'

उसने दिन के अंत होने को एक प्रतीक लिया है—

कब्र अपना नाम पूछती है....
दिन का अंत होने पर
मैंने कहा—सभ का कहीं ना कहीं
अंत होता है—
ऊंचा नीचा, आगे पीछे, गलत ठीक,
उस जैसा कोई और जीव
रंग दो ही होते हैं—सफ़ेद—काला
वह जहां सारी आंखें—
सारी दिशाओं से आकर
खड़ी हो जाती हैं....
एक दिन के बंद होने पर



मिंदर

एक और रंग है—जिंदा आत्मा का
वहीं समय क्यों खड़ा है?
सारी दिशाएं, सारी आत्माएं
एक-दूसरी के विपरीत खड़ी हैं
लड़तीं-झगड़तीं
एक और आत्मा, और आईना, और चेहरा
एक और जिंदा रूह—एक और दिन
आएगा, बताएगा—
मैं वहां हाज़िर नहीं था—
जहां मेरा अंत हुआ है....

यह 'होने' का सिलसिला है। राह में बिछी कब्र का नाम क्या है, वह नहीं जानता। ओढ़न और बिछावन का फिक्र दूसरे का होगा, सिलसिले का नहीं है—

मिंदर की नज़्म आहिस्ता से कहती है—

बहुत धूल उड़ रही थी
पहाड़ के दिल में, कहीं गहरे,
चांद रो रहा था
पुल का सारा वजूद—
बर्फ के संदूक में था
पुलाड़—आईने से देख रहा था
सांसों से गुज़रती हवा की मौत
टूटकर गिरते हुए पत्थर
और दबे जा रहे थे—
वीनस के बुत्त
मैंने तुम्हें कहा—चलें?
तू चल पड़ी,
यह ना जानते हुए भी
कि आगे—जलती रात से
खोजना पड़ेगा वह समय
जो ऊपर ओढ़ लेना है
तुम और मैं—
कुछ देर सोने के लिए....

पिता-पितामह से बातें करो

कहते हैं एक दरवेश था कहीं नदी के किनारे। एक पहाड़ी के पहलू में उसका रहना था, लेकिन उसका मुरीद कोई नहीं था। लोग हैरान होते कि दूर-दूर से जो भी आते थे, उसका मुरीद होने के लिए, वो दो-चार दिन के बाद उन्हें कहता–"जाओ! अभी नहीं, फिर आना...."

इसका रहस्य किसी की पकड़ में नहीं आता। और एक आलम फ़ाज़ल था, जो अपने को महापंडित मानता था, उसके दिल में आया, अगर मैं उस दरवेश के पास जाऊं, तो मुझे लौटाने के लिए उसके पास कोई तर्क नहीं रहेगा। उसने जाने से पहले दरवेश के पास अपना पैगाम भेजा–"मैं आना चाहता हूं, आपके पास रहकर, आपका ज्ञान पाने के लिए। क्या आप मुझे मंजूर करेंगे?"

और कहते हैं, ये पैगाम सुनकर दरवेश हंस दिया, कहा–"हां आओ! पर एक शर्त है, अकेले आना, और खाली हाथ आना।"

बात कुछ अटपटी-सी लगी फिर भी वो महापंडित चल दिया। वहां पहुंचकर दरवेश को नमस्कार की, कहा–"शायद आपने मेरा नाम सुना होगा, किसी से। मैं किसी के पास जाता नहीं, लेकिन मन में एक धारणा बनी है, आपके पास आने की" और आने वाला कई वर्षों के अर्जित किए हुए ज्ञान की बातें करने लगा....

दरवेश बहुत देर सुनता रहा, मुस्कराता रहा, फिर कहने लगा–"अब जा सकते हो। मैंने कहा था अकेले आना, खाली हाथ आना। आप न अकेले हैं, न खाली हाथ हैं इसलिए जाओ!"

वो महापंडित सकपका गया, कहने लगा–"अकेला तो आया हूं, खाली हाथ भी आया हूं, आपके लिए दक्षिणा तक नहीं लाया।"

दरवेश हंस दिया, कहने लगा–"अकेले नहीं हो! अभी तो बहुत से साए आपके साथ आए हैं। वो जो सदियों से मर चुके, आप उन सबके साए अपने साथ लाए हैं। और जो भी जगह-जगह से अर्जित किया, वो सब आप हाथों में लिये हुए हैं...."



जसवंत दीद और अमृता प्रीतम

ये संस्कारों के साए, रवायतों के साए और पिता-पितामह से जो वजन उठाया वो सब लिए हुए इंसान चलता रहता है....

लगता है—वही दरवेश शायद हमारे एक शायर जसवंत दीद से मिला था, और अपनी दरवेशी की एक चिंगारी उसके पास छोड़ गया। जसवंत दीद कहते हैं—

पिता-पितामह से बातें करो!
बातें करो और पूछो—
पूछो कि तुम्हारी कमर के गिर्द
तड़ागी का इतना भार कौन बांध गया?
पूछो—पड़नानी से
कि नानी मां को जो संदूक देती है
उसमें पड़ी पिटारी में
पुश्तों का, जादुई तांबे का सिक्का कब पिघलेगा?
पूछो कि हर घर की दहलीज़ में
काले कील किसने दबाए
जो हर बार पैरों के लिए शाप बन जाते हैं....
पूछो कि सालम आदमी
टुकड़ा-टुकड़ा करते हुए कौन ले जाता है?
और अपनी-अपनी इच्छा का खिलौना बना लेता है....

बातें करो! और अपने-अपने बच्चों की
तड़ागियां खोल दो।
दूर पहले घास के मैदानों में हंसने के लिए
खुले आकाश से बातें करने के लिए....

खाब खड़प्पा

जिस तरह कभी लोकगीत की सादगी आसमान के दिल को छू लेती है, आज की शायरी में भी, कभी-कभी ऐसी घटना हो जाती है....

रमेश शर्मा का एक गीत है जिसकी एक पंक्ति बड़ी प्यारी और छलिया है। जिस तरह कोई अप्सरा, एक नादान सी लड़की की सूरत में, किसी नदी से पानी का मटका भरती है, और किसी तपस्वी को छल जाती है....

वो पंक्ति है—मुझे खाब खड़प्पा लड़ गयो रे, मुझे विष माही का चढ़ गयो रे....

ये पंक्ति जिस तरह विष से विस्मात तक की यात्रा करती है, उसका यही छलिया रूप देखने वाला है....

नाग डंक मारता है, हुस्न डंक मारता है लेकिन इस पंक्ति में ये सपने का डर है, जो कायाकल्प कर देता है....

ये स्वप्नमय क्षण, वो क्षण है, जिसकी ज़मीन पर पैर रखकर चेतना में एक क्रांति हो जाती है....

सांसों के उस सिलसिले को भी देखना होता है—सांस भीतर जाता है, बाहर आता है, एक नियम में बंधा हुआ। लेकिन हम नहीं जानते कि उसके भीतर जाने और बाहर आने के बीच एक बड़ा सूक्ष्म अंतराल होता है, जिसे योगी लोग कड़ी साधना से पहचानते हैं। वो अंतराल कालमुक्त होता है, उसमें से जो भी गुज़रता है, कोई-कोई योगी, वो अनंत में प्रवेश कर जाता है। और कह सकती हूं कि इस पंक्ति का ख़ाब लफ़्ज उस क्षण जैसा है, जिसमें चेतना की क्रांति जैसी घटना घट गई है....

बाहर से इसकी तुलना एक सांप से है, खड़प्पा सांप से, जिसका ज़हरीला डंक किसी से सहन नहीं होता। और विष चढ़ जाता है। इस नज़्म की प्यारी घटना ये है कि विष तो चढ़ता है, मोहब्बत का विष, जिससे मौत जैसी घटना नहीं होती, विस्मात जैसी घटना होती है, एक दीवानगी जैसी—



रमेश और अमृता प्रीतम

एक शक्ति—जो अपने ही बदन में गुच्छा सी मूर्च्छित सी, पड़ी होती है, वही जाग उठती है। और आग की एक लकीर सी, सारे बदन की यात्रा करने लगती है ....मांस मिट्टी की देह, आग को पीती, बिलखने लगती है; लेकिन वही बिलखना एक विस्माद, एक खुमारी, एक दीवानगी बनने लगता है, जब वो आग की लकीर ब्रह्मरंदर को छू लेती है....

"मुझे विष माही का चढ़ गयो रे", कहने वाले के प्राण गाते और नाचते दिखाई देते हैं। विष से तो मूर्च्छित होना था, फिर ये विष मीरा की पायल की तरह कैसे बजने लगता है?

विष का पायल की तरह बजने लगना ही—विस्माद की यात्रा है, जो इस एक पंक्ति में उस संकेत की तरह पड़ा है, जिसे समझकर कुछ कहना और सुनना नहीं होता, सिर्फ अंतर की यात्रा करनी होती है....

सूक्ष्म तरंगों से बुनी हुई नज़्में

कुछ ऋषि और दरवेश थे, जो सूक्ष्म में उतर गए, तो देखा—कहीं एक रिश्ता है, जो कण-कण में सरकता हुआ, पूरी कायनात को अपने में लिये हुए है....

बात अनुभव की थी, इसलिए तर्क में ढलती नहीं थी, तर्क तो तर्क को काटना जानता है, अंतर मन में उतरना नहीं जानता....

उन ऋषियों और दरवेशों ने जब कुछ संकेत किए—तो दुनिया को तलवार से तामीर करने वाले हंस दिए। बोले—क्या कहते हो! कौन-सा रिश्ता? सामने लाओ! हम उसे तलवार की नोंक से काट देंगे, जाति और मज़हब के नाम से काट देंगे, रंग और नस्ल के नाम से काट देंगे....

कहानी बहुत लंबी है—ख़ामोश कण-कण में बहती हुई, और सदियों की छाती में धड़कती हुई....

और वह जो रिश्ता है, किसी की पहचान में नहीं आता था, अभी-अभी कुछ साइंसदान उसे उठाकर अपनी प्रयोगशाला में ले गए। कितने ही यंत्र बिछा दिए, और वह रिश्ता उन यंत्रों से गुजरता रहा....मुस्कराता रहा कि आज उसे उठाकर लाने वाले, उसे पहचानने की कोशिश में थे....

और एक दिन कुछ साइंसदान थे, जो यंत्रों को हाथ में लिये ग़ौर से देखने लगे कि कुछ है, जो पकड़ में आ रहा है। और एक दिन उन्होंने क़ानून के अधिकारियों को बुलाया, पांच-छः लोगों को, और एक बाड़ी में उगे हुए, छोटे-छोटे पेड़ों के पास ले गए। एक तरफ़ दो पेड़ थे, साथ-साथ पनपते हुए, उनके पास पहुंचे तो साइंसदानों ने क़ानून के अधिकारियों से कहा—आप में से कोई एक आगे होकर एक पेड़ को जड़ से उखाड़ दे!

उन लोगों के कड़े हाथों के लिए यह बहुत छोटी-सी बात थी, कोई एक आगे हुआ, उसने एक पेड़ के वजूद को हाथों में कस लिया, और मिट्टी की छाती से निकाल दिया। कितनी ही पत्तियां बिखर गईं जो उसने पैरों से मसल दीं। और साइंसदानों ने कहा—अब जो देखने की बात है, वह कल होगी....

दूसरे रोज़ वही लोग आए, और उन्हें बारी-बारी से, उस पेड़ के पास लाया गया, जो वहां अब अकेला खड़ा था। उसके पास साइंसदानों ने एक ग्राफ़ बिछा दिया था। क़ानून के अधिकारी बारी-बारी से आते रहे, और साइंसदान उस ग्राफ़ को देखते रहे। ग्राफ़ एक-सा बनता रहा पेड़ की शक्ति को लकीरों में उतारता रहा। और फिर उस अधिकारी को लाया गया, जिसने एक रोज़ पहले, उस पेड़ के साथी को गिरा दिया था। और सब हैरान-से उस ग्राफ़ को देखने लगे—जहां इतनी उथल-पुथल होने लगी, कि कांपती हुई लकीरें एक बहुत बड़ी हलचल का पता दे रही थीं....

साइंसदान मुस्करा दिए, बोले—देखो! इस पेड़ ने अपने साथी पेड़ के क़ातिल को पहचान लिया....

—अल्लाह! अधिकारी देखते रह गए! साइंसदानों ने कहा—यह कुदरत के शक्ति-कणों का रिश्ता है, जिसे पत्ता-पत्ता पहचानता है....

क्या एक पेड़ किसी घटना की इतनी बड़ी गवाही दे सकता है? क़ानून के अधिकारी देखते रहे, और कहने लगे—जब कहीं कत्ल होता है, अगर कोई पेड़ पास हो, तो लगता है—एक दिन ऐसा भी आएगा, कि उस पेड़ की गवाही लेनी होगी ....और वह झूठे गवाहों की तरह नहीं बोलेगा, सच्ची गवाही देगा....

यह कण-कण का रिश्ता, जो सिर्फ़ कुछ ऋषि और दरवेश जानते थे, अब विज्ञान की पकड़ में आने लगा है....

यह एक बहुत बड़े रिश्ते की गाथा है, जो अनंत काल से चलती हुई, सदियों की छाती में खामोश धड़कती रहती है। किसी-किसी काल में बस इतना हुआ, कि वह किसी-किसी शायर की छाती में भी हिलती रही, और अक्षरों में उसका एक कंपन-सा उतरता रहा....

यह दुनिया के शायर हैं, बहुत थोड़े से, जो इसकी पहचान का धागा टूटने नहीं देते, और उन्हीं में से एक गुलज़ार हैं, जिन्होंने इसे इतना पहचाना है, कि उसकी बात अक्षरों में ढालते हुए, उन्होंने, उस खामोशी की अज़मत रख ली है, जो अहसास में उतरना जानती है, पर होठों पर आना नहीं जानती।

एक ऐसी खामोशी, जो अक्षरों को पाकर भी बोलना नहीं जानती—वह अक्षरों के अंतराल में होती है।

गुलज़ार एक बहुत प्यारे शायर हैं—जो अक्षरों के अंतराल में बसी हुई खामोशी की अज़मत को जानते हैं—उनकी एक नज़्म सामने रखती हूं—

रात भर सर्द हवा चलती रही
रात भर हमने अलाव तापा
मैंने माज़ी से कई ख़ुश्क सी शाखें काटीं

तुमने भी गुज़रे हुए लम्हों के पत्ते तोड़े
मैंने जेबों से निकालीं सभी सूखी नज़्में
तुमने भी हाथों से मुरझाए हुए ख़त खोले
अपनी इन आंखों से मैंने कई मांजे तोड़े
और हाथों से कई बासी लकीरें फेंकीं
तुमने पलकों पे नमी सूख गई थी सो गिरा दी
रात भर जो भी मिला उगते बदन पर हमको
काट के डाल दिया जलते अलाव में उसे

रात भर फूंकों से हर लौ को जगाए रखा
और दो जिस्मों के ईंधन को जलाए रखा
रात भर बुझते हुए रिश्ते को तापा हमने

इन अक्षरों से गुज़रते हुए—एक जलते और बुझते हुए रिश्ते का कंपन हमारी रगों में उतरने लगता है, इतना कि आंखें उस काग़ज़ की ओर देखने लगती हैं, जो इन अक्षरों के आगे खाली है और लगता है—एक कंपन है, जो इस खाली काग़ज़ पर बिछा हुआ है....

गुलज़ार ने उस रिश्ते के शक्ति-कण भी पहचाने हैं, जो कुछ एक बरसों में लिपटा हुआ है, और उस रिश्ते के शक्ति-कण भी झेले हैं, तो जाने कितनी सदियों की छाती में बसा हुआ है....

कह सकती हूं कि आज के हालात पर गुलज़ार ने जो लिखा है, हालात के दर्द को अपने सीने में पनाह देते हुए, और अपने ख़ून के कतरे उसके बदन में उतारते हुए—वह उस शायरी का दस्तावेज़ है, जो बहुत सूक्ष्म तरंगों से बुनी जाती है—

सुबह-सुबह इक ख़्वाब की दस्तक पर दरवाज़ा खोला, देखा
सरहद के उस पार से कुछ मेहमान आए हैं
आंखों से मानूस थे सारे
चेहरे हारे सने सनाए
पांव धोए, हाथ धुलाए
आंगन में आसन लगवाए....
और तंदूर पर मक्की के कुछ मोटे-मोटे रोट पकाए
पोटली में मेहमान मेरे
पिछले सालों की फसलों का गुड़ लाए थे
आंख खुली तो देखा घर में कोई नहीं था

हाथ लगाकर देखा तो तंदूर अभी तक बुझा नहीं था
और होठों पर मीठे गुड़ का ज़ायका अब तक चिपक रहा था

ख़्वाब था शायद!
ख़्वाब ही होगा!!
सरहद पर कल रात, सुना है, चली थी गोली
सरहद पर कल रात, सुना है
कुछ ख़्वाबों का ख़ून हुआ था।

बंद आंखों में जो तारी हुआ—दूर पार के लोगों से—एक रिश्ते को बनते हुए देखा, मेहमान-नवाजी ने एक चूल्हा भी जलाया, सौगात में लाया हुआ गुड़ भी खाकर देखा—और आंख खुलने पर पाया कि वहां कुछ भी नहीं देखा—फिर यह क्या था कि हाथ लगाने पर देखा, चूल्हा अभी तक बुझा नहीं था, और गुड़ का ज़ायका अभी तक होठों पर था....

सचमुच कभी-कभी कोई शायर होता है, जो रिश्ते की इतनी डायमैन्शंस को पा लेता है, और उनकी सूक्ष्म तरंगों को इस कदर पहचान लेता है कि वह रिश्ता, जो एक सपना बनकर आया था—वही सपना सरहद पर कत्ल हुआ है....

कायनात के शक्ति-कण, जो रिश्ता बनाए हुए हैं, उनकी शक्ति एक ही दिशा में प्रवाहित नहीं होती, वह लौटकर दूसरी दिशा में भी प्रवाहित होती है। चांद-सूरज की रोशनी धरती को प्रभावित करती है, यह दिखाई देता है, लेकिन जो दिखाई नहीं देता, वह दूसरी दिशा है कि धरती की उदासीनता के कण चांद-सूरज को किस तरह प्रभावित करते हैं। गुलज़ार की कुछ नज़्मों में वह रिश्ता भी दिखाई देता है, जहां सीने में उलझी हुई कुछ सांसों से उसने देखा—"आज फिर चांद की पेशानी से उठता है धुआं...."

और धरती की छाती पर जो गुज़रती है, उसे देखकर चांद, आसमान की मैली-सी गठरी में छुप जाता है, और जब गठरी से वह एक हाथ निकालता है, तो हाथ में चमकता हुआ खंजर होता है। गुलजार ने शक्ति-कणों के रहस्य को पाया है, हर रंग के रहस्य को। और जिस तरह काग़ज़ पर उतार दिया, वह देखने वाला है—

चांद क्यूं अब्र की उस मैली सी गठरी में छुपा हुआ था।

उसके छुपते ही अंधेरों से निकल आए थे नाख़ून
और जंगल से गुज़रते हुए मासूम मुसाफिर

अपने चेहरों को खरोंचों से बचाने के लिए चीख़ पड़े थे
चांद क्यूं अब्र की उस मैली सी गठरी में छुपा था?
उसके छुपते ही उतर आए थे शाख़ों से
लटकते हुए आसेब थे जितने
और जंगल से गुज़रते हुए राहगीरों ने
गर्दन में उतरते हुए दांतों से सुना था
पार जाना है तो पीने को लहू देना पड़ेगा

चांद क्यूं अब्र की उस मैली सी गठरी में छुपा था?
ख़ून से लिथड़ी हुई रात के राहगीरों ने दोज़ानों पे गिरकर
"रोशनी, रोशनी!" चिल्लाया था,
देखा था फ़लक की जानिब,
चांद ने गठरी से इक हाथ निकाला था,
दिखाया था चमकता हुआ खंजर!!

इन सूक्ष्म तरंगों में उतर जाने वाला, कदम-कदम, मार्फ़त की उस मंज़िल पर पहुंच जाता है, जिसे फ़ना कहते हैं। उसी के किनारे पर, ख़ाकी बदन को, रात के नीले से गुंबद से कोई ध्वनि उठती हुई सुनाई देती है और कहीं ठहरे हुए पानी पर सुबह की खुलती हुई आंख दिखाई देती है कि ख़ाकी बदन की बांहें दो उलझे हुए मिसरों की तरह होने लगती हैं....

और फिर ताज्जुब नहीं होता, जब अपने खाकी बदन को लिये, उफ़क से भी परे, इन सूक्ष्म तरंगों में उतर जाने वाला गुलज़ार एक दिन कहता है—

वह जो शायर था चुप-सा रहता था
बहकी-बहकी-सी बातें करता था
आंखें कानों पे रखके सुनता था
गूंगी ख़ामोशियों की आवाज़ें
जमा करता था चांद के साए
गीली-गीली सी नूर की बूंदें
ओक में भरके खड़खड़ाता था
रूखे-रूखे-से रात के पत्ते
वक़्त के इस घनेरे जंगल में
कच्चे-पक्के-से लम्हें चुनता था
हां, वही, वह अजीब-सा शायर

रात को उठके कोहनियों के बल
चांद की ठोड़ी चूमा करता था
चांद से गिरके मर गया है वह
लोग कहते हैं ख़ुदकशी की है....

फ़ना के मुक़ाम का दीदार जिसने पाया हो, उसके लिए बहुत मुश्किल है, उन तल्ख़ घटनाओं को पकड़ पाना, जिनमें किसी रिश्ते के धागे बिखर-बिखर जाते हैं....

उस मुक़ाम से ख़ाकी बदन तो लौटता है, लेकिन जानता है कि उसका 'कुछ' था जो वहीं उस मुक़ाम पर छूट गया....

जो साथ आता है, उसी 'कुछ' की कशिश होकर साथ आता है। और उस कशिश की मद्धिम-सी लौ में, वह उस रिश्ते को देखता है, जिसके धागे कहीं से टूट गए लगते हैं....

उसने सूक्ष्म तरंगों का रहस्य पाया है, इसलिए मानना मुश्किल है कि यह धागे जुड़ नहीं सकते। इस अवस्था में लिखी हुई गुलज़ार की एक बहुत प्यारी नज़्म है, जिसमें वह कबीर जैसे जुलाहे को पुकारता है—

मुझको भी तरकीब सिखा कोई यार जुलाहे!
अकसर तुझको देखा है कि ताना बुनते
जब कोई तागा टूट गया या खत्म हुआ
फिर से बांध के
और सिरा कोई जोड़ के उसमें
आगे बुनने लगते हो
तेरे इस ताने के लेकिन
इक भी गांठ गिरह बुनतर की
कोई देख नहीं सकता है

मैंने तो इक बार बुना था एक ही रिश्ता
लेकिन उसकी सारी गिरहें
साफ़ नज़र आती हैं मेरे यार जुलाहे!

लगता है—गुलज़ार और कबीर ने एक साथ कई नज़्मों में प्रवेश किया है—और ख़ाकी बदन को पानी का बुलबुला मानते हुए, यह रहस्य पाया है कि वक़्त की हथेली पर बहता यह वह बुलबुला है, जिसे कभी न तो समंदर निगल सका, न कोई इतिहास तोड़ पाया....

सांसों में सरसराती कविता

कहते हैं—कोई एक दरवेश था और जब उसके प्राण उसके शरीर को छोड़ने लगे तो अलविदायगी की उस वेला में, उसके मुरीब बहुत उत्सुकता से उसके नज़दीक हो बैठे, कोई एक आख़िरी हर्फ़ मुर्शिद के मुंह से सुनने के लिए....और कहते हैं—दरवेश ने अचानक आंखें खोलीं और बड़े तपाक से अपने शरीर के एक-एक अंग को कांपती उंगलियों से टटोला और बोला—हे काया! तेरा बहुत शुक्रिया! तूने बड़ी सहजता से मेरी आत्मा को धारण किया और सालों-साल उसे अपने आंचल में संभाल लिया. ...प्रिय! अब तेरे से बिछुड़ जाने की बेला है, मैं तुम्हें आख़िरी सजदा करता हूं....

कुछ ऐसा ही एहसास होता है, मोहनजीत की कविताओं को पढ़ते हुए—कि उसकी काया कैसे अडोल बैठी—खड़ी रही, जब उसके प्राण पवन की तरह सरसराते वहां चले गए—जहां—

चीड़ के पेड़ हैं—
पानी के बदन हैं, रेत की चटाई है
सुनहरी काई की ओट में दीया जलता है
कभी कभी तेज़ सांसों की आहट सुनाई देती है
या दूर कहीं बांसुरी बजती है....

चीड़ के वृक्ष पृथ्वी तत्व हैं, रेत की चटाई जहां बिछी हुई है, वह किनारा सीधा पानी तत्व है, काई की ओट में जलता दीया सीधा अग्नि तत्त्व है, और अपने सांसों की आवाज़ और दूर कहीं से आती बांसुरी की आवाज़ सीधा पवन तत्त्व है—पर खुले आकाश के नीचे नज़र आते यह सारे तत्त्व मिलकर भी पांच तत्त्वों से बनी स्थूल काया से कहीं दूर, कहीं परे सूक्ष्म काया के तत्त्व हो गए, जहां प्राण पहुंच गए हैं....

और इस तरह, ऐसी कविताएं पाठक की सांसों में सरसराती, उसकी चेतना को वहां ले जाती हैं, जहां स्थूल काया के सूक्ष्म तत्त्व विचरण करते हैं—

इसी तरह कवि, चेतना की कई दिशाओं की यात्रा करता है, और वे सारे

संकेत पारकर पाठक का मन भी हर यात्रा के लिए उमड़ता है—

मैंने गुलाब से पूछा—तेरा बचपन कहां है?

कहने लगा—कांटों को पता है....

कवि के साथ तो जाने क्या गुज़री, जो पाठक के साथ गुजरती है, उसकी बात करूंगी कि वह कैसे अपने गहरे अंतर्मन में पड़ी वह स्मृतियां बीनने लगता है, जो उसकी काया के जन्म के साथ काया की दुखती रगें बनकर जन्मी थीं और उनके सांस्कारिक अस्तित्व को गुलाब का सपना लेना भी भूल गया था....

इस तरह चेतना के गुलाब का खिलना उनके कांटों के लिए एक अचंभा हो उठता है, तब तंत्र शास्त्र का वह रहस्य पकड़ में आता है—जिसने अपनी मुट्ठी में उस 'हां' को लिया हुआ है, जिसने बीते के कांटों को भी स्वीकार कर चलना है, और उन कांटों को बीनने वाले अपने ख़ून से भीगे पोरों को भी गले से लगाकर चलना है।

मोहनजीत के सवलों का धागा दूर तक लिपटा हुआ है। वह धागा किसी पर्वत के शिखर से गुज़रता हुआ उसे पूछता है—"पर्वत ने शिखर से पूछा—तेरा इंतजार कितना भर है?

कहने लगा—"गुफा से पूछूंगा...."

गुफ़ा जाने किस काल के अंधेरे की प्रतीक है—जिस अंधेरे में गुफा की ओट में बैठे हुए किसी दरिंदे के खूनी पंजों के निशान भी हैं—और किसी काल में किसी ऋषि की साधना से तरंगित हुई—बिजलई शक्तियां भी हैं....और यह पर्वत चोटी की यात्रा है गुफ़ा के द्वार तक—अपने अस्तित्व की चिंगारी को तलाशती हुई....

अस्तित्व का सच जब निराकार हो जाता है, समय-समय के कवि उसे कई तरह से आकारमय करते हैं, मोहनजीत समंदर की नींद को तूफ़ान की सूरत में आकारमय करता है—"समंदर से पूछा—कब सोता है?

कहने लगा—तूफ़ान ही बता सकता है....

जिज्ञासा की चिंगारी कब एक बात बनी थी, यह तो धरती जाने, पर वह इंसान की रगों में उतरकर एक दुखती रग़ बन गई। कवि उसका संकेत देकर ख़ामोश हो जाता है और वह धड़कती ख़ामोशी पाठकों की सांसों में धड़कने लगती है....

कविता क्या होती है, इसकी तशरीह युगों-युगों से होती आई है, हर एक के अपने क्षणों की पहचान बनकर और उसी पहचान वाले क्षण की रोशनी में यह कहने को मेरा मन करता है कि कविता वह है, जिसके अक्षर आपकी चेतना को कालमुक्त कर दें; और आपकी सांसों में सदियों की दूरी तय कर आती कोई पवन सरसराने लगे....

मोहनजीत की एक कविता है—'मैं अपनी रात ढूंढ रहा हूं....' इस कविता में

दिन की बात करते हुए वह हकता है—'दिन' रात का ज़रा सा बकाया था....

यह पंक्तियां थीं, जिन्होंने मेरे ऊपर वह क्षण तारी कर दिया, जो कहीं सदियों के अंतराल पर खड़ा हुआ था। वैशाली की नगरवधू आम्रपाली मेरे पास आ खड़ी हुई, और मगध के राजकुमार के साथ अपने प्यार की गाथा कहती, कहने लगी—वह दिन था जो रात का ज़रा सा बक़ाया था। मोहनजीत कहता है—

'रात जो मैंने तेरी कलाई से बांधी थी
तेरे गजरे के स्पर्श से कुछ प्यासी सी हो गई
कि गजरे दिनों के लिए होते हैं—
रातों के लिए खुश्बू....'

और आम्रपाली कहने लगी—''एक तलाश थी, जिसने मेरी कलाई से रात बांधी थी, पर मैंने मगध के राजकुमार का गजरा पहना हुआ था, इसलिए रात उदासीन हो गई। वैशाली के राजा ने मुझे नगरवधू बना दिया तो कई गजरे मेरी कलाई से बंध गए और मेरी रात उदासीन हो गई। गजरे दिनों के लिए होते हैं, रातों के लिए महक होती है—फिर मुझे चेतना आई तो मैं सारे गजरे उतारकर, अपने तथागत के पास चली गई और मैंने अपनी रात ढूंढ ली....महक ढूंढ ली....''

इस आम्रपाली वाली स्मृति को मैं एक इत्तफ़ाक नहीं कहना चाहूंगी, इसे एक अच्छी कविता की तशरीह कहना चाहूंगी, जो घड़ी-पल के लिए किसी को कालमुक्त कर देती है....

स्वयं काल-मुक्त होती है और दूसरे को काल-मुक्त करती हुई मोहनजीत की कई कविताएं हैं :

'पहाड़ की अपार तराई में—
जहां आदिकाल से शून्य बिछा है
सिर्फ तेरे बोलों की मुरकियां सुनाई देती हैं
किसी पत्थर की ओट में हम तब से पास-पास हैं
जब से पहाड़ है—
यह मैंने नहीं, तराई ने बताया है....'

चेतना की छाती पर सिर रखकर, जब उसे बिछुड़े हुए मित्रों की तरह मिलें, तो हवाएं कभी सांसों में सरसराती हैं तो कभी सुलगती हैं। कांटे, गुफ़ा, तूफ़ान और दुखती रग़, बड़े वसीह अर्थों वाले हो जाते हैं—वह ब्रह्मपुत्र की कोख से जन्म लेने के लिए भी बिलखते हैं, जो अब घाटी की मिट्टी में पड़े हुए हैं, और अपनी उस मिट्टी की बात भी करते हैं, जो कभी माला थी, बांसुरी थी, तीज त्रिंजण थी और अब टूटी चूड़ी है, सुलगती मांग है और गिरी हुई पगड़ी हुई है....''

जो कविता पढ़ने वाले की चेतना को काल-मुक्त करती है, वही स्वयं को

सीमा मुक्त करती है—और धरती की सांसों में सुलगती उसे अपनी धूप मांगने के लिए कहती है, अपनी छाया और अपनी धूप....

"नगर-शहरों के वे दरवाज़े जो कभी मां-बाप की बाहों की तरह खुले थे, आज हममें से कौन है, जो उस नगर-शहर के बारूदी वक्ष में नहीं बैठा हुआ," पर यह मोहनजीत है, जिसने चेतना की छाती पर सिर रखकर बड़े बिलखते हर्फ़ों में उसकी बात की है, और मैं-आप-हम सभी हैं, जिन्हें वह 'जागते यारो' कहकर मुखातिब हुआ है।

मैंने जिस दरवेश की बात सुनाई थी, उस बात का एक अगला सिरा भी है कि जब आख़िरी सांसों के साथ उस दरवेश ने अपने शरीर का शुक्रिया किया, तब फिर मिट्टी के साथ मिट्टी होने लगा शरीर बोला—ईश्वर के बंदे! तेरा भला हो, तूने मुझे एक उम्र के लिए प्राणमय कर दिया था....

मोहनजीत का नाम भी उनमें से है, जो हमारे अक्षरों को प्राणमय करते हैं....

देह गाथा

काया की एक अपनी सीमा है, लेकिन उसमें सोए हुए असीम का अहसास जब अंगड़ाई लेता है, तो वह शक्ति अक्षरों में भी उतरती है, स्वरों में भी ढलती है, लकीरों और गोलाइयों में भी खिलती है और नृत्य कला बनकर अंग-अंग से भी बरसती है....

दिनेश द्विवेदी ने इसे देह गाथा का नाम दिया है :

जो पाटलीपुत्र में सुना गया
जो वैशाली में हुआ
जिसे संपूर्ण मगध अब तक दुहरा रहा है
वह न केवल आम्रपाली-प्रसंग था
न चित्रलेखा की पाप-पुण्य की व्याख्या
वह तो आदिम परंपरा से चली आ रही
इस विराट देह गाथा के कुछ उपसर्ग थे....

पूरी देह गाथा कौन कह पाया है! उपसर्ग तो संकेत भर होते हैं—पूरी देह गाथा की दिशा दर्शाने के। और वे संकेत भी इतने रहस्यमय कि जिनका वाचन, कालांतर, पुनर्वाचन की आवश्यकता लिये रहता है—

ओशो इस देह गाथा के सूक्ष्म ब्यौरें में जाते हैं—

"कवि अपनी रचना के साथ एक होता है, जब तक वह अक्षरों में नहीं उतरती। काग़ज़ पर उतर जाए, तो वह उससे अलग खड़ा होता है। इसी तरह एक चित्रकार जब अपने को रंगों और लकीरों में उतारकर सामने रख लेता है, तो उसका अपना अस्तित्व अलग खड़ा रह जाता है, लेकिन नृत्य उस रहस्य में विलीन हो जाता है, जहां काया को अलग नहीं किया जा सकता...."

लगता है—दिनेश उस सूक्ष्मता को पहचानते हैं और देह में रहते हुए देहातीत हो जाने का अनुभव पाकर कहते हैं—



दिनेश द्विवेदी

यह देह—देह से परे
किसी देहातीत हो जाने की
अब तक घटती चली आ रही प्रक्रिया का
रहस्यमय अनुसंधान तो नहीं है तुम्हारा यह?

एक बीज जब मिट्टी, पानी और सूरज का स्पर्श पा लेता है, तो जाने क्या उसे स्मरण हो आता है, कि वह कितने ही रंगों और सुगंधियों में भीग जाता है—

बात तो स्पर्श की है, और स्मरण की....दिनेश की एक कविता इसी धूप में पकी हुई उस बाली की तरह हो जाती है, जिसके बदन पर अक्षरों के दाने खिल उठते हैं। लेकिन वह सब किसी हवन की सामग्री बनने के लिए है—

आज मैंने अपनी देह के हवन कुंड में
तुम्हारी प्रेमाग्नि को धधका लिया है
और अपने प्राणों को—
तेरी स्मृति के उषा काल में
विगत क्षणों को ऋचाएं बनाकर
'स्वाहा' किए जा रहा हूं....
कोई बीते हुए क्षण कब ऋचाएं बन
जाते हैं, इस रहस्य को कहना नहीं
होता, जीना होता है....

यहां मुझे एक कहानी याद आती है कि एक सूफ़ी फ़कीर था, अपने में खिला हुआ और अपने में लिपटा हुआ। लोग कभी आते, एक नज़र दर्शन भी पाते, एक घूंट वचन भी पीते, पर कोई भी उसे जान नहीं पाया था। और कहते हैं कि जब समय के कुछ पंडित लोग उसे शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रण देते, वह हंस देता, कहता कि उसके पास कहने को कुछ नहीं है। इससे भ्रम भी फैलने लगे कि उसने फ़कीरी का नाम पहना है, जाना कुछ भी नहीं।

और कहते हैं—एक बार कोई दूसरा सूफ़ी फ़कीर था, उस राह से गुज़रा, तो पंडित लोगों ने उसे, उसके पास भेज दिया, जिसे वे कभी नहीं जान पाए थे। खुद भी साथ हो लिये कि आज जो उनका शास्त्रार्थ होगा, उससे कोई रहस्य पकड़ में आएगा।

और कहते हैं—कि जब वे एक-दूसरे के सामने हुए तो देखते ही हंसने लगे। लोगों ने तरह-तरह के फल परस दिए, पका हुआ भोजन लेकर आए—और वे दोनों भोजन पाते रहे, हंसते रहे—

सांझ होने लगी, विदा की वेला आई, तो कुछ लोगों ने घबराकर कहा—

शास्त्रार्थ तो हुआ नहीं....

वे दोनों फिर हंस दिए, कहा—शास्त्रार्थ तो हो गया....

यह एक अनुभव का एक अनुभव से मिलन था....

और यह जो अक्षरों से परे होता है, कुछ उसी का अहसास मुझे हुआ, जब दिनेश जी की एक कविता सामने आई—यह स्पर्श।

दिनेश के स्पर्श लफ़्ज का कच्चा धागा उन्हें किस-किस काल में ले गया है, उस रहस्य को देखना होगा—

यह स्पर्श, जैसे—
शब्द रहित अनंत प्रशांत नील निलय में
प्रथम ओंकार रूपी—
ब्रह्म नाद!....

काया में सोए हुए अनंत शक्तियों के कण कब और किस स्पर्श से पिघलने लगते हैं, यह किसी तर्क की पकड़ में नहीं आएगा। तर्क तो किनारे पर खड़े रह जाते हैं, अनुभव की नदी में नहीं उतरते। वह ब्रह्मनाद की ध्वनि तो अंतर से उठती है, जहां शक्तिकण पिघलने लगते हैं।

इस स्पर्श कविता को पढ़ते हुए मैं उस सूफी फ़कीर की तरह हंसने लगी, जिसके अनुभव ने किसी दूसरे के अनुभव को पहचान लिया, तो कुछ अशब्द सुना जाने लगा....

दिनेश अगली पंक्तियों में कहते हैं—

यह स्पर्श—जैसे
मंत्र स्रष्टा ऋषि के
मुख-सर से निकलती
वेद की प्रथम ऋचा!....

मुझे एक वह क्षण याद आया, जब मुझे 'वाच' का दर्शन हुआ था, वेदों की जननी का। और अब देख रही थी—दिनेश उस मंत्र स्रष्टा ऋषि के दर्शक हुए हैं, जिसके मुख से वेद की प्रथम ऋचा उतरी थी....

लगा—यह वह क्षण है, जब दो फ़कीरों का मिलन हुआ था....

दिनेश कहते हैं—

यह स्पर्श—जैसे
विष्णु पद नख से
ब्रह्म कमंडल से
शिव जटालय से

पृथ्वी तल पर
प्रथम गंगावतरण!....

इस गंगा से अंजली भरकर पीते हुए, मैं यह सब लिखने लगी हूं, कुछ इस तरह, जिस तरह कोई चुपचाप धरती पर पानी छिड़कता है, कि जाने कहां कोई बीज पड़ा होगा, और वह पनपने लगेगा....

राधा अर्पित कृष्ण-होठों पर रखी हुई मुग्धा वंशी की बात करते हुए, दिनेश उस स्पर्श की बात करते हैं—

यह स्पर्श—जैसे
अनेक जन्म-जन्मांतरों से
भोगे जाते हुए द्वैत का
अद्वैत में महाविलय....

यह फ़नाह का मुक़ाम है, महाविलय का, जहां कहने को भी कुछ नहीं बचता और कहने वाला भी नहीं बचता।

दिनेश इस मुक़ाम पर पहुंचे हैं, इससे वह स्पर्श भी सार्थक हुआ, जिसका भी था, और वह काया भी सार्थक हुई, जिसने वह स्पर्श पाया....

तुम्हारी गोद में संन्यास मेरा

मेरे घर की दरो-दीवार पर कई नज़्में लिखी हुई हैं। कहीं सूफी शायरों का कलाम है और कहीं कई मुल्कों के शायरों की पंक्तियां। वहीं दरवाज़े पर एक हंगेरियन शायर आतिला योसेफ की एक पंक्ति है—तूने मुझसे दूर जाना है, जैसे पानी की आवाज़ पानी से दूर जाती है....

और एक रात स्याम नंदन को पढ़ते हुए मुझे अहसास हुआ कि अक्षरों में से उठता हुआ एक कंपन है, एक हल्की-सी आवाज़, जो दूर कहीं किसी आत्मा की घाटी में बहते हुए पानी का पता दे रही है।

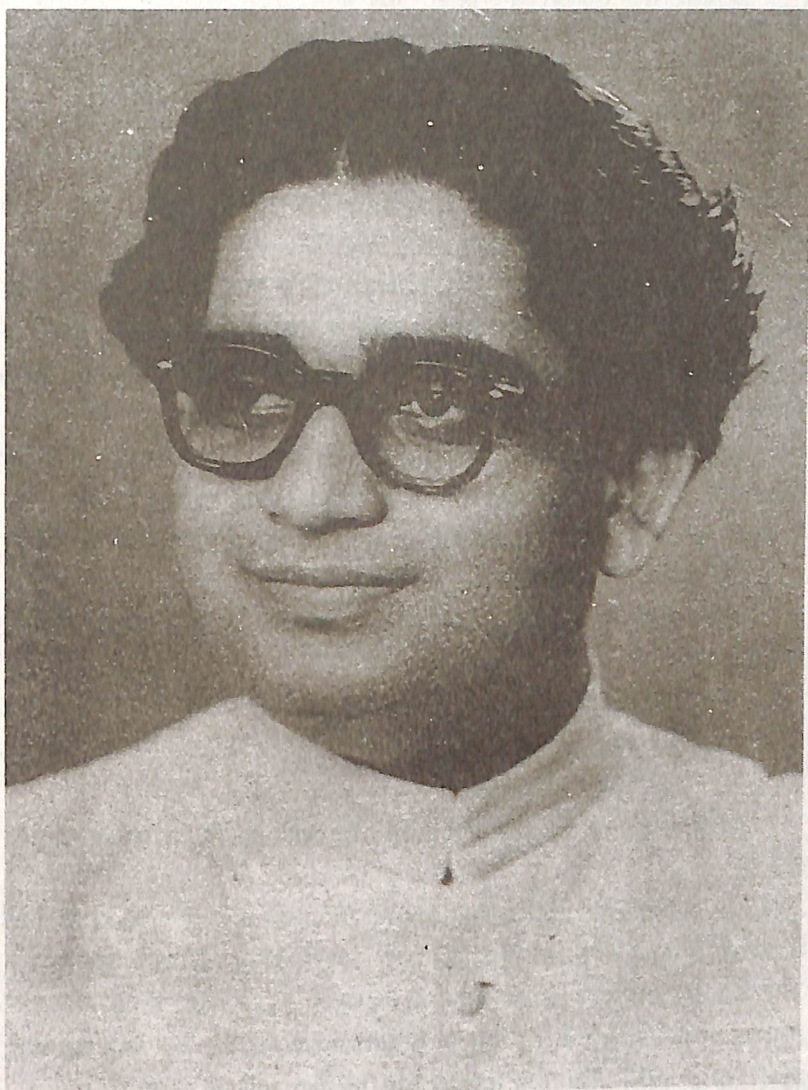
'संन्यास' एक ऐसा शब्द है, जो ज़िंदगी के इंकार से जुड़ा हुआ है। और उसी इंकार से फिर अंतर का पानी, अंतर का रस सूखता चला जाता है और उसके दूर-पास एक मरुस्थल-सा बनता चला जाता है और यह घटना तो कभी सदियों में होती है कि कोई मरुस्थल को नकारकर, अपनी अंतर-चेतना का संकेत पा लेता है, जो दूर कहीं महाचेतना की धारा का पता देता है। और फिर वो अपने अंतर के पानी को, अपने अंतर के रस को नमस्कार करता है।

हमारी दुनिया में जगह-जगह अक्षरों की भीड़ जमा होती है, एक शोर-सा उठता है, जाने कितने होठों से टकराता है और फिर वहीं मिट जाता है। और मैं अक्सर मन में कहा करती थी कि नज़्म तो पानी की एक हल्की-सी आवाज़ है, एक संकेत-सा कि दूर कहीं महाचेतना का सागर होगा....

बात नज़्म की हो या नसर की, मैं मानती हूं कि अक्षरों की अंतर्ध्वनि सिर्फ वहीं उठती है जो अक्षर दूर कहीं गहरे में किसी चिंतन से जुड़े होते हैं। कुछ ऐसा ही अहसास हुआ। स्याम नंदन जी की पंक्तियां थीं—

है तुम्हारी बांह में हरिद्वार-काशी
है तुम्हारी गोद में संन्यास मेरा....

लगा—यह एक नमस्कार है, अंतर के पानी को, अंतर के रस को। यही स्वीकार वो दृष्टि देता है कि किसी की बांहें हरिद्वार और काशी बन जाती हैं और कोई सहज मन से किसी की गोद में संन्यास ले पाता है।



श्याम नंदन

संन्यास और स्वीकार का रिश्ता स्याम नंदन जी की बहुत-सी कविताओं में एक अंतर्ध्वनि की तरह समाया हुआ है।

सांसों के गहरे बंधन का स्वीकार है, इसलिए तन के रहते हुए भी मन के वनवासी हो जाने में कोई बाधा नहीं है। वो कहते हैं–"अरमान होंगे, बहुत होंगे, लेकिन फिर क्या, उन्होंने तो क्षण का अधिकार पा लिया।"

यह क्षण का दर्शन एक ऐसा दर्शन है कि कहना होगा–इसी के बल पर वो क्रांति और शांति का महामिलन देख पाए।

क्रांति बाहर की एक घटना है। और हमारी दुनिया का इतिहास अनेक क्रांतियों की अनेक घटनाओं से भरा हुआ है। और इतिहास साक्षी है कि एक आंधी की तरह उठती हुई और बैठती हुई कोई क्रांति किसी मरुस्थल की तकदीर नहीं बदल पाती। और कुछ देर के लिए रेत-कणों का रेत-कणों में बैठ जाना शांति नहीं होता।

लेकिन क्रांति जब बाहर की नहीं, अंतर की घटना बन जाती है, तो इंसान के अंतर में वो हरियाली की तरह पनपती है, फूल की तरह खिलती है, और उसमें से उठती हुई सुगंधि का नाम शांति होता है। यही फूल और सुगंधि का मिलन क्रांति और शांति का महामिलन है।

स्याम नंदन ने जब काया के स्वीकार में उसके अंतर-बल को जवानी का नाम देते हुए कहा–

यह मिट्टी का ईमान है
यह राणा का बलिदान है
यह शंकर का विष-पान है

तो उन्होंने काया के स्थल पर क्रांति और शांति के मिलन का अनुभव पा लिया....

कह सकती हूं कि अंतर का यह अनुभव दुनिया की बहुत ही थोड़ी-सी रचनाओं में मिलता है, जहां कोई अपनी अंगुलियों से अपनी चेतना की परतें उठाता चला जाता है। अहसास हुआ–स्याम नंदन जी अंतर की किसी यात्रा में जब काया के इर्द-गिर्द कभी देख लेते हैं, तो एक गहरी सांस लेकर हंस देते हैं–"अरे यह क्या, प्रश्नचिह्नों की तरह मंदिर खड़े हैं, प्रश्नचिह्नों की तरह मस्जिदें खड़ी हैं...."

और वो महान क्रांति से संबोधित होते हैं, कहते हैं–"मान लिया कि ज़िंदगी एक अंधेरी रात का सफर है, पर मेरे स्वप्न, आओ! मेरी नींद को सुहागिन कर दो!"

यही नींद को सुहागिन करने का सपना है–जो ब्रह्मांड की शक्तियों को देवताओं का नाम देते हुए कभी वंदना और सजदे में झुकता है और कभी मनु से लेकर मार्क्स तक का दर्शन बनता है।

सपना यथार्थ में ढलता नहीं, और धर्म और विज्ञान हर नीति और राजनीति की संकरी गलियों में भटकते हुए, एक-दूसरे को खोजते हुए, कभी नायक को खलनायक बनते देखते हैं और कभी खलनायक को नायक बनते हुए।

और इसी मंथन से स्याम नंदन विज्ञान की शक्ति को भी पहचानते हैं, और धर्म से कोई दुआ नहीं मांगते, उसे आशीष देते हैं।

आज एक काया की सूरत में वो हमारे सामने नहीं हैं, लेकिन यह तो हमारी नज़र की सीमा है, जो चिंतन की सूरत में ढल गया, हम देख नहीं पाते, पर वो है, और उसी की बात करते हुए कामना करती हूं कि आज हमारे देश के जो हालात हैं, जिसमें हर मज़हब का नाम एक-दूसरे से टकराता हुआ ज़ख्मी हो रहा है, उन सबकी आत्मा को—उनकी आशीष लग जाए!

लिख तुम नीली बांसुरी

एक समय था जब वशिष्ठ ऋषि ने एक दरिया में डूबकर काया-मुक्त हो जाना चाहा था। और हमारा इतिहास बताता है कि उस समय दरिया का पानी सोच में पड़ गया था कि अगर एक ऋषि ने मेरे जल में श्वास तोड़ दिए, तो मेरे जल को ऋषि-हत्या का श्राप लग जाएगा। और कहते हैं—कि दरिया ने अपनी लहरों की मदद से वे रस्सियां तोड़ दीं, जिनमें ऋषि ने अपने-आपको बांधा हुआ था। और लहरों ने अडोल उस ऋषि को दरिया के किनारे पर पहुंचा दिया....

यही घटना थी—जिससे दरिया का नाम विपाशा हुआ। पाश तोड़ने वाला, बंधन तोड़ने वाला। और फिर समय बीतने पर विपाशा लफ़्ज़ से दरिया का नाम बयास हो गया।

इतिहास कैसे बदलता है, सुरजीत पात्तर ने इसी का जायज़ा लेते हुए, आज के हालात सामने रखकर पांचों दरियाओं के बारे में कहा है—मातम, हिंसा, खौफ़, बेबसी और अन्याय—यह हैं आजकल मेरे दरियाओं के नाम....

मैंने आरमीनिया में एक गुफ़ा देखी थी, कि जब पूरा देश हमलावरों के कब्जें में था, तो लोगों पर जुबानबंदी का क़ानून लागू हो गया था, तो समय का इतिहास लिखने के लिए, उस देश के कुछ शायर और इतिहासकार दूर जंगलों, पर्वतों की गुफ़ाओं में चले गए थे।

इस तरह के समय, हमलावरों की आमद से तो आते हैं, पर कई बार सियासी घटनाएं भी इस तरह का समय ले आती हैं। पंजाब की उदासी बरसों लंबी होती गई—तो हमारे बहुत से शायर और कहानीकार अपने-अपने मन की गुफ़ा में उतरकर समय का दर्द अक्षरों में उतारने लगे। इनमे से सुरजीत पात्तर एक बड़ी संजीदा कलम का नाम है, जिसके अपने शब्दों में—

यह कुछ बूंदें हैं,
जो मैंने तपती हुई रूह से कशीद की है
यह एक गवाही है—
कि उदास अंधेरा इस तरह लिखता है—

उसकी अंधेरे में सुलगती वर्णमाला जब कभी कुछ पंक्तियों में जगती-बुझती है, वह पंक्तियां देखने वाली हैं—

यह मेरे लहू की लिपि के उदास अक्षर
मेरे अंधेरे के हर्फ़
उदास उपनिषद्
तपती तवारीख़
मेरा आहत नाद
एक सुलगती किताब....

उपनिषद् लफ़्ज़ का अर्थ होता है—पास बैठने का क्रम। अपने गुरु पीर के पास बैठकर कुछ सुनना। और जिन्होंने अपने पास बैठकर, अपनी आत्मा के पास बैठकर, आत्म-विद्या की बात की, उन ग्रंथों को उपनिषद् कहा गया। और आज के वक़्त में सुरजीत पात्तर ने लहू की लिपि में जो कुछ लिखा है—मैं उसे एक उदास उपनिषद् कहना चाहती हूं—

हर आवाज़ किसी टकराव से पैदा होती है। किसी भी तरह की चोट से। और इसीलिए जो योगी आत्म-मंडल की आवाज़ सुनते हैं—उसे अनहत नाद कहा जाता है। वह किसी भी टकराव से पैदा हुआ नहीं होता। आहत हुआ नहीं होता। और आज का वक्त किस तरह की गर्दिश में है, सुरजीत पात्तर ने उसके लिए एक लफ़्ज़ प्रयोग किया है—और एक लंबा इतिहास उस एक लफ़्ज़ में लिपटा हुआ है। वह लफ़्ज़ है—आहत नाद।

यह आहत नाद—आज के पूरे दौर की गाथा है। इसीलिए मैंने सुरजीत पात्तर की नज़्मों को एक उदास उपनिषद् कहा है।

उपनिषद् लफ़्ज़ के अर्थ सदियों से आत्म-विद्या से जुड़े हुए हैं, रूहानी अवस्था और देखने वाली बात यह है कि सुरजीत पात्तर ने आज के कलुषित दौर की बात करते हुए, कहीं भी उपनिषद् लफ़्ज़ के अर्थों की उल्लंघनता नहीं की।

आज से कई वर्ष पहले, जब उसके 'हवा में लिखे हर्फ़' सामने आते थे—उस संग्रह के पहले हर्फ़ों को उसने शीर्षक दिया था—'लिख तुम नीली बांसुरी, आगे सुर्ख आग।' यह नज़रिया, उपनिषद् लफ़्ज़ के पूरे अर्थों में उतरा हुआ है कि सुर्ख आग को नीली बांसुरी से भी मुख़ातिब हुआ जा सकता है।

आग को नीली बांसुरी के साथ मुख़ातिब होने वाला कोई कृष्ण और कबीर हो सकता है, और या वह शायर जिसने कायनाती चेतना की रमज़ पा ली हो। यह चेतना आज उसके अक्षरों में धड़कती है—

अब घरों को लौटना मुश्किल बहुत है....
कौन पहचानेगा हमें

माथे पर मौत दस्तख़त कर गई है....
इतने डूब चुके हैं सूरज
इतने मर चुके ख़ुदा
जीवित मां को देखकर
अपने या उसके प्रेत होने का होगा तौख़ला....

हक़ीक़तें जब पते बदलती हैं, तो वक़्त के शायर को बड़े लंबे फ़ासले तय करने पड़ते हैं। पात्तर ने भी वे फ़ासले तय किए हैं। कृष्ण चेतना में उतरकर भी, उसने जिस 'आज' को देखा है, वहां राधा नाराज़ है, रुक्मणी उदास और कृष्ण परेशान है।

यह पहचान उसके अक्षरों में उतरती है–
कृष्ण जो सोलह कला संपूर्ण अवतार नहीं
अधेड़ उम्र का कवि है
जिसके बालों में
धूप और छाया की बहस चल रही है....

राधा के लफ़्ज़ों में आज वह दुविधा का अवतार है, और रुकमणी के लफ़्ज़ों में "मैं तुम्हें माफ़ तो कर सकती हूं पर तेरे बाजुओं में निश्चिंत सो नहीं सकती...."

जो बांसुरी सुर्ख आग को मुख़ातिब हो, उसके स्वर और शब्द पहचाने हुए अर्थों में नहीं होते। आज वह उस चौराहे पर खड़ी है, जो कभी चारों दिशाओं का संकेत होता था, जब नींवों में पत्थर चिने जाते थे, बेटे नहीं, और आज न सोचों के पास दिशा है, न पैरों के पास। आज उसे पता है कि शगुनों से भरी रात में दूध और पुत्र किसने ख़त्म किए, और कातिल की आहट किस ओर जाती है...."

सारा शगुफ़्ता ने कभी पागलखाने में बैठकर पागल औरतों की डायरी लिखी थी, कि उनकी घड़ियों में से वक़्त गिर गया है। और आज पात्तर ने वक़्त के पागलपन को देखते हुए, देखा है कि मन की, सोच की, और वक़्त की घड़ी एक उदासीन हिंदसे पर आकर खड़ी हो गई है।

एक मासूम और हरे-भरे वृक्ष की सूरत में आज पात्तर ने एक सवाल वक़्त के सामने रखा है–इतिहास के सामने रखा है–

"आप मेरी सूली बनाओगे कि रबाब? उदास हिंदसे पर खड़ा हुआ वक़्त, पता नहीं, यह सवाल कब सुनेगा, पर हर अहसासमंद इंसान ने इसका जवाब अपने अंतर में ढूंढ़ना है। यह इतिहास की तकदीर का सवाल है, कि वृक्षों की मासूम लकड़ी से तन-मन को और पवन पत्तियों को तरंगित करती रबाब बनानी है कि चीख़ों से भीगी हुई सलीब?

सुरजीत पात्तर की जो नीली बांसुरी वृक्षों की सलीबी तकदीरों के लिए फ़िक्रमंद हुई है–मैं उसे अपना मोह पेश करती हूं।

गांधी-चेतना

महाराष्ट्र के एक विद्वान् श्री लक्ष्मण शास्त्री को जब 1985 में सम्मानित किया गया, तो उनकी तर्कशक्ति को अपना आदर देते हुए मैंने आज के उन हालात की बात की थी, जिन हालात की गर्दिश में हमारा देश गुज़र रहा है, और इतिहास के एक वाकये का हवाला दिया था। जब रेवा के किनारे शंकराचार्य और मंडन मिश्र का शास्त्रार्थ हुआ था और शारदा ने एक फूलों की दो मालाएं उनके गले में पहनाई और कहा—जिसकी माला के फूल शास्त्रार्थ के दौरान मुरझा जाएंगे, उसकी हार मान ली जाएगी। यह शारदा का नज़रिया था कि जिसके पास चिंतन-शक्ति होगी, आत्मविश्वास होगा, वह शांत और सहज मन होगा और उसकी गर्दन में लिपटे हुए फूल उसी तरह खिले रहेंगे, लेकिन जिसके पास तर्कशक्ति नहीं होगी उसका विश्वास अंदर से कहीं टूट जाएगा और उसकी आवाज़ की तल्खी से फूल मुरझा जाएंगे.... और शारदा के इसी चिंतन की रोशनी में मैंने कहा था कि आज हम लोग भाषा के नाम पर, जाति के नाम पर, मज़हब के नाम पर जो कुछ कह रहे हैं, कर रहे हैं, हमारी सत्ता की हवस में हमारे सबके फूल मुरझा गए हैं।

और अब इन दिनों, तीन साल के बाद, जब अरुण शेवते से मुलाकात हुई तो उन्होंने बताया कि 1985 के उस पूना समारोह का ब्यौरा जब दूसरे दिन अखबार में आया था तो उस शाम उन्होंने देखा कि एक पान की दुकान पर उस अखबार का वो टुकड़ा एक तस्वीर की तरह लगा हुआ था और जब उन्होंने पान वाले से पूछा—भई! यह किसकी तस्वीर लगा रखी है? यह कौन है? तो पान वाले ने कहा—साहब! खाली तस्वीर नहीं है, पढ़कर देखिए, इसमें क्या लिखा हुआ है?

अरुणजी से यह बात सुनते हुए मुझे आज से चालीस साल पहले का वो ज़माना याद हो आया, जब मैं हिंदुस्तान की तकसीम से पहले लाहौर रेडियो में सितार बजाया करती थी, तो एक बार रेडियो के माहनामा 'आवाज़' में मेरी तस्वीर शाया हुई, तो लाहौर के पान वालों ने अखबारों से मेरी तस्वीर काटकर अपनी दुकानों पर लगा ली, तो लाहौर में एक हंगामा-सा हो गया था कि देखो! शरीफ घरों की

बहू-बेटियों की तस्वीरें पान की दुकानों पर लगी हैं।

यह हंगामा एक हद तक सही था। उन दिनों किसी औरत की तस्वीर का ऐसा प्रदर्शन उसकी कला से संबंधित नहीं था, उसके चिंतन से संबंधित नहीं था। उसका ताल्लुक़ सिर्फ औरत की जवानी और सूरत से था। लेकिन आज--देख रही हूं, अपने आम लोगों के, अपने साधारण लोगों के नज़रिए का फर्क। जो कह सकते हैं--साहब! यह खाली तस्वीर नहीं है, पढ़कर देखिए, इसमें क्या लिखा हुआ है।

यह चेतना, जो आज हमारे लोगों में आ रही है, मुझे लगता है, इसकी हरी पत्ती महाराष्ट्र की ज़मीन से ही अंकुरित हो सकती थी, जहां उस डिंडी की रिवायत चली आती है कि आषाढ़ की एकादशी के दिन पंडर पर पहुंचने के लिए हज़ारों लोग एक लंबी यात्रा करते हैं और उस यात्रा में हर जाति के और हर मजहब के लोग शामिल होते हैं।

और चेतना की उसी रोशनी में आज अरुण शेवते का एक ऐसा चिंतन हमारे सामने आया है, जो वक़्त की नाड़ी पर हाथ रखकर पूरे देश की पीड़ा-गाथा सुना रहा है।

गांधी जी ने देश की अंतर-शक्ति को जगाने के लिए तीन बंदर पेश किए और एक चेतना उनके हाथों में दे दी, जो आंखों पर हाथ रखकर किसी भी गलत को देखने का इंकार बन गई। जो कानों पर हाथ रखकर किसी भी गलत को सुनने का इंकार बन गई और जो होठों पर हाथ रखकर किसी भी गलत को कहने का इंकार बन गई।

इसी चेतना को लेकर अरुण शेवते की रचना में अब यह तीन बंदर पूरे देश की यात्रा पर निकलते हैं और जो स्याह अलामतें हमारे देश में फैली हुई हैं, अरुण शेवते उन बंदरों के माध्यम से हमारे सामने रखते हैं।

उनकी चेतना देखती है कि जो कबूतर अमन का प्रतीक था, शांति का प्रतीक, वो जुए के दांव पर लगा दिया गया है और हम वो प्रतीक हार चुके हैं।

वही चेतना देखती है कि राम के पैरों की खड़ाऊं शराब के अड्डे पर गिरवी रख दी गई है।

और ये बंदर एक दुहाई देने के लिए जब अपने गांधीजी के जन्म-स्थल पर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहां बहुत बड़े दांव-पेच खेले जा रहे हैं और वहां उन बंदरों के प्रवेश को वर्जित करार दे दिया गया है।

वो बंदर जब कहीं पनाह नहीं ले पाते, तो रात सड़कों पर बसर करते हैं, वहां उन पर पुलिस का तशद्दद होता है और रात सड़कों पर बिताने के जुर्म में उन्हें अदालत की ओर ले जाया जाता है।

लेकिन वो छब्बीस जनवरी का दिन है, अदालत में छुट्टी है और पुलिस उन्हें

नाबालिग समझकर हिरासत में रख लेती है। लेकिन वो नाबालिग नहीं हैं, यह 26 जनवरी का दिन ही तो उसकी सालगिरह का दिन था।

वो बड़े यत्न से हिरासत में से निकलते हैं, तो देखते हैं कि उनके बापू की जन्मभूमि पर फिरकापरस्ती की आग जल रही है, आदिवासियों के घर जल रहे हैं। और वो उदास बंदर जले हुए घरों की राख लेकर सत्ता-भवन की ओर जाते हैं—एक दुहाई देने के लिए।

इसी तरह वो पंजाब में जाते हैं, जहां पूजा-स्थान में उनका प्रवेश नहीं हो पाता।

एक बंदर पत्थरों से ज़ख्मी हो जाता है, और एक दिन को ज़िंदा आग में जलाने की कोशिश की जाती है और इन हालात से घबराकर तीसरा बंदर जब मर जाने की सोचता है, तो तीनों को राजघाट ले जाकर उनकी समाधि बना दी जाती है।

अरुण शेवते लिखते हैं कि जब तीनों बंदर दफन कर दिए गए, तो लोगों ने घबराकर मरने वालों के स्थान पर कुछ दीए जला दिए और जैसा कि एक रिवायत चली आती है कि दीए की रोशनी में उस स्थान पर जो भी निशान दिखाई देता है, किसी बच्चे के पैर का या किसी पशु-पक्षी के पैर का, उससे समझ लिया जाता है कि मरने वाला फिर से इस योनि में पैदा होगा। और जहां-जहां यह बंदर आहत हुए थे, लोग वहां दीए जलाते हैं, लेनिक वहां कोई निशान दिखाई नहीं देता, जिससे लोग हताश हो जाते हैं और सोचते हैं कि गांधीजी ने जिन कद्रो-कीमत की बात की थी, अब उनका फिर से जन्म नहीं होगा।

मरते हुए हर बंदर के सपने में गांधीजी का आना और खामोश रहना भी इसी निराशा का संकेत बनता है और दीया जलाकर यह देखना भी उसी निराशा का संकेत बनता है कि अब इस देश में गांधीजी का आत्मबल फिर से जन्म नहीं लेगा।

हमारी सबकी चेतना, जो आज अपने देश के हालात से इतनी उदासीन है कि अंधेरे की इस गार में किसी लौ का पता नहीं पा रही, अरुण शेवते की यह रचना 'राजघाट' उसी का एक संवेदनशील ब्योरा है।

ऐसी संवेदनशीलता अपने-आप में एक तड़पती हुई आरज़ू होती है, किसी रोशनी के लिए....

सूरज की किरण अंधेरे की कोख से जागृत होती है, इसलिए दुआ मांगती हूं कि अरुण शेवते की यह संवेदनशीलता हम सबके अंतर में उतर जाए और अंधेरे की कोख से उस किरण का जागरण हो, उस अंतर-चेतना का, जो किसी समय हमारे देश की गांधी-चेतना थी।

मैं मराठी भाषा नहीं जानती, इसलिए नहीं कह सकती कि अरुण की रचना कला के पहलू से कितनी शक्तिशाली है, लेकिन यह कह सकती हूं कि व्यथा के

पहलू से यह इतना बल रखती है कि आम लोग भी कह पाएंगे—साहब! पढ़कर देखिए, इसमें क्या लिखा हुआ है।

हर बंदर के सपने में गांधीजी आते हैं, लेकिन कुछ बोलते नहीं। कहना चाहती हूं कि यह उन्हीं की आवाज़ है, जो अरुण शेवते की कलम से व्यक्त हुई है और वे इतनी बड़ी व्यथा को वाणी दे पाए हैं।

राजघाट तो स्थूल का समाधि-स्थान है, चेतना का नहीं। चेतना आहत हो सकती है, मूर्च्छित हो सकती है; पर चेतना कभी मरती नहीं। वो है, तभी तो वो अरुण शेवते की कलम से व्यक्त हुई है।

सिर्फ़ एक बात और कहना चाहती हूं; अरुण शेवते से नहीं, अपने लोगों से कि तीन बंदर जहां ज़ख्मी हुए और उन्होंने वहां दीया जलाकर देखा कि वहां कोई निशान दिखाई नहीं देता, वो फिर से, गौर से, उन स्थानों को देखें, गांधी-चेतना का दीया जलाकर देखें, तो वहां कलम का निशान जरूर दिखाई देगा।

मैं मानती हूं कि गांधी ने जिन कद्रो-कीमत की बात की थी, और जो आज हमसे खो चुकी है, वह जब-जब दिखाई देगी, इस देश के चिंतनशील व्यक्तियों की कलम में दिखाई देगी।

युग का अंतर

वक़्त इस तरह हिलने-डुलने लगा कि कभी वह सावित्री और सत्यवान की पौराणिक कथा तक दूर चला जाता, और कभी आंख झपकाकर करीब खड़ा वर्तमान को देखने लगता।

लगा, पौराणिक कथा की सावित्री बादलों से एक सफ़ेद बादल का टुकड़ा लेकर, एक आकृति पहनकर, नीले बादलों में बहुत तेजी से यमराज का पीछा कर रही है और उससे अपने सत्यवान के प्राण वापस मांग रही है। यमराज सत्यवान को नहीं लौटा पाता और सावित्री को कोई और वरदान मांगने के लिए कहता है। वह वरदान मांगती है कि उसके अंधे ससुर को आंखें मिल जाएं। फिर खलाई शक्तियां एक जादू जगाती हैं और उसी क्षण सावित्री और यमराज का संवाद बदल जाता है। सावित्री उससे कह रही है—

मेरे अंधे युग को आंखें दे दो
और उन आंखों को ज्योति दे दो....

देखती हूं, मेरे सामने जो काग़ज़ बिछे हुए हैं, सावित्री की आवाज़ उन्हीं काग़ज़ों पर अंकित हो गई है और उन्हीं काग़ज़ों पर यमराज की आवाज़ भी अंकित है—

अंधा युग अज़ल से अंधा....
ज्योति मस्तक से नहीं मिलती....
यह मांगे से नहीं मिलती....

और उन्हीं अक्षरों में से सावित्री की आवाज़ उभरती है, "जो आत्मा की दौलत खो चुके, उन्हें पवित्र आग के मोती दे दो।" और ज़वाब में यमराज की आवाज़ सुनाई देती है—

उनकी झोली काग़ज़ की झोली है
काग़ज़ की झोली आग के मोती कैसे रख पाएगी?

यह दूसरा वरदान था, जो सावित्री ने मांगा और फिर यमराज के कहने पर तीसरा वरदान मांगा—

ज्ञान के वृक्ष विफ़ल न जाएं
खालीपन का शाप न पाएं



मनजीत टिवाणा

और यमराज की खामोशी के सामने सावित्री बिलख-सी उठती है—"मुझे यह वर दे दो कि ज्ञान की आग चिता की आग न बनने पाए....लगता है, यमराज सावित्री का दर्द पहचानता है, कहता है—जंजीरों का पाजेब बनते युग लगता है...

और देखती हूं युग का अंतर बढ़ता जाता है। पौराणिक कथा की सावित्री की तरह आज की सावित्री भी तीन वर मांगती है, लेकिन पौराणिक युग में जो यमराज उसे तीनों वर दे पाया है, आज नहीं दे पाता।

और युग का अंतर आज के यमराज की बेबसी को देखता हुआ जब एक नज़र आज की सावित्री की ओर देखता है तो उसकी आंखों में एक हलकी-सी रोशनी फैल जाती है। देखता है—सावित्री की ज़िद पर जब यमराज ने उसका सत्यवान लौटा दिया, तो चोरी से, सत्यवान के शरीर से उसका ज़मीर निकाल लिया....और सावित्री तड़प उठी—"मुझे यह सत्यवान नहीं चाहिए। यह शरीर नहीं चाहिए जो महानगर के शोर में एक शोर की तरह मिल जाएगा....सत्यवान मेरा सच है और सच, बिना ज़मीर के नहीं हो सकता...."

आज के युग की सावित्री के मस्तक पर जब डूबते हुए सूरज का विलाप लिखा जाता है तो मैं आज की कथाकार मनजीत टिवाणा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहती हूं, "आज की सावित्री! तुम आज के अंधे युग को मिला हुआ वरदान हो!"

मंगलीक पीढ़ी

मनजीत आहिस्ता से कहती है, "दीदी, नज़्म का वह हिस्सा देखो, जब आज की सावित्री सत्यवान से मिलती है। वह पूछता है, 'तू किस देश से आई है? किस मां की जायी है?' तो वो कहती है, 'अनंतकाल से कितने ही अंधकार चीरती हुई आई हूं। रोशनी की तिहाई हूं....एक काली नदी हूं, एक उदास सदी हूं....बीसवीं सदी, जो बिना सच के मर जाएगी....'

और फिर जब सावित्री की मां वक़्त के पंडितों से पूछती है, तो वे कहते हैं, 'इस मंगलीक का विवाह किससे रचाओगी? 'दीदी! यह मेरी सावित्री मेरी पूरी पीढ़ी मंगलीक है...."

देखती हूं—सावित्री जब अपने सच को, अपने सत्यवान को पाने के लिए ज़िद करती है, तो मां उसे धूप का उबटन मलती हुई उसका ब्याह रचाती है, तो सुहाग के गीत 'बैणों में बदल जाते हैं—

री मेरी मोरनी बेटी—
तेरी हिरनों-सी चाल है—मेरी मोरनी बेटी!
तेरे बादलों से बाल हैं—मेरी मोरनी बेटी!

आंखों में काजल डाल ले—मेरी मोरनी बेटी!
तू सपनों को संभाल ले—मेरी मोरनी बेटी!

लगता है अंधे युग का खौफ़ आज की सावित्री की 'साइकी' में उतर गया है। वह जानती है कि आज कितनी ही शहनाइयां बजें, लेकिन उसे ऐसा सत्यवान मिलने वाला है, जिसके पास से उसका ज़मीर खो चुका है....

और उसे पाकर भी न पाने का दर्द जब उसकी चेतना बनता है, तो मनजीत टिवाणा की नज़्म चेतना की उस गहराई तक उतर जाती है, जहां शरीर के पांच तत्त्व बारी-बारी से उसे बहकाने के लिए आते हैं और वह पांच तत्त्वों से वार्तालाप करती है।

धरती तत्त्व, जो सावित्री के शरीर को बहार दे सकता है, कहता है, "तेरी आंखों में सूरज जलता है, लेकिन तेरे मस्तक पर शाम हो गई। मुझे लगता है, तू इस राह पर कभी पहले भी आई थी", और सावित्री उससे कहती है—

शायद किसी और जून में आई थी....
शायद सूरजमुखी की जून थी जो सदियों के अंधेरों में
अंधेरों का टुकड़ा हो गई....
शायद एक बेल की जून थी—
जो किसी मंदिर के द्वार पर अपना यक़ीन खो गई....
शायद एक हिरनी की जून थी—
जो अपनी ही कस्तूरी के पीछे भागती दम तोड़ चुकी....
या उस वक्त में—जो कई हज़ार साल पहले
चलता-चलता किसी पुराण में
सावित्री नाम की कथा में कैद हो गया....

बीते हुए काल के गीले वस्त्र भविष्य की धूप में सुखाती हुई सावित्री धरती तत्त्व को शाप देती है—

तेरी सोच की टहनी पर कोई पक्षी गीत नहीं गाएगा
तुझे कोई फल नहीं आएगा, तू बेऔलाद मर जाएगा....

और सुगंध पवन-तत्त्व की प्रतीक होकर बहुत क्रोध से सावित्री से कहती है, 'मैं तरह-तरह के आरोप तुझ पर लगाऊंगी। तू कृष्ण-नैनी है, पर मैं तुझे काले रंग में रंग दूंगी तो तेरा सत्यवान भी मुझे नहीं पहचान पाएगा...."

और सावित्री इस शाप पर मुस्करा देती है। कहती है, "मुझे वह सत्यवान नहीं चाहिए, जो मुझे काले रंग में रंगी हुई को नहीं पहचान सकता...."

फिर तीसरा तत्त्व आता है—सूरज। अग्नि का प्रतीक। वह सावित्री को भरमा लेना चाहता है। उसके पैरों में रोशनी की खड़ाऊं डालकर, उसकी हथेलियों पर कहकशा रख सकता है, लेकिन सावित्री, जो आज की चेतना है, बड़ी सहजता से कहती है,

"मेरा सच मेरी रोशनी है। तेरे होते हुए भी अंधेरा रहेगा....कम्बख़्त, मैं तुझे शाप देती हूं कि तेरा दामन भी मेरी तरह जलता रहेगा...."

इसी तरह चौथा तत्त्व पानी, दरिया की सूरत में उसे मिलता है। वह आज की सावित्री को शोहरत के नाम से बहका लेना चाहता है। कहता है–

जो लहर मेरी छाती को छूकर आएगी
वह कंपन तेरी हर कविता होगी....
और जब तक मेरा पानी बहता रहेगा
उसमें तेरा ही साया दिखता रहेगा....

ज़वाब में सावित्री मुस्करा देती है, "मैं तो अपने ही आंसुओं में डूब रही हूं, तेरी लहरों में मुझे अपने घर का पता नहीं मिलता।"

उस वक़्त दरिया का कुछ पानी समुंदर में जाकर कड़वा हो गया, और कुछ पानी गंगा में मिल गया, जहां हर की पौड़ी पर देवता स्तुति-गान करने लगे।

मुझे लगा, आज की सावित्री ने, आज की शायरा ने, आज की चेतना ने, वक़्त की नब्ज़ पर हाथ रख दिया है, जहां वक़्त के पास खारे पानी की तरह कड़वा हो जाने के सिवा, या देवताओं के स्तुतिगान में अपनी पीड़ा को छुपा लेने के सिवा कोई रास्ता नहीं रहा।

आज की चेतना उदासीन है और भटकती है। और जब उसे पांचवां तत्त्व आकाश, नवग्रहों पर सवार एक राहगीर की सूरत में मिलता है और कहता है कि तुम चिंतन छोड़ दो, हमारा कर्म चलते जाना है तो सावित्री उससे कह पाती है–

मैं भूत और भविष्य के बीच की कथा हूं!
मैं कसी हुई रस्सी पर चलता–
हमारी पीढ़ी का उनींदा वर्तमान हूं....
मैं नर्क और स्वर्ग के बीच बहती हुई नदी हूं....
मैं यमराज और धर्मराज की साक्षी दीवार पर
रखा हुआ दीया हूं....

तो इस दीए की लौ में सावित्री अपने अंतर को पहचान लेती है। बीते की घटनाएं और दुर्घटनाएं उसके गिर्द नाचती हैं, लेकिन वह आदि की, नाद की, अनहद की, अनेक योनियों की दहलीज़ों को पार करती हुई, अपनी चेतना का मोल चुकाने के लिए तैयार हो जाती है। चिंतन का यज्ञ करती है और बलिदान की सूरत में राख हो जाना चाहती है....

मैं नहीं जानती कि हमारा वर्तमान इस राख को अभी अपने मस्तक पर तिलक की तरह धारण करेगा या नहीं, लेकिन मैंने उठकर मनजीत टिवाणा का माथा चूम लिया, जिस पर इस राख के कण चमक रहे थे....

काले बीज को आता है जब—सुर्ख फूल का सपना

आसमान अपने रंग में रंगा हुआ था। अभी उसके आंगन में बादलों का आना जाना नहीं हुआ था। देखा—कुछ लोग वहां सहज विचर रहे थे। मेरी पहचान के नहीं थे, पर अहसास हुआ—खिले हुए दिलों वाले होंगे जो सहज पवन में लहरा रहे थे....

नीचे ज़मीन पर सिर्फ़ रेत बिछी हुई थी, जहां मैं भी खड़ी थी, कुछ और लोग भी, जो आसमान की ओर देखे जा रहे थे....

ये बहुत प्यारी रात थी, जिसने एक सपना सा बनकर मेरी आंखों के सामने किसी रहस्य का दर खोल दिया था। मैं जागकर भी सपने के रंग में रंगी हुई थी कि याद आया—एक बार किसी ने विनसेंट वान गौग से पूछा था—तुम्हारे चित्रों में सितारों पर भी फूल खिले होते हैं, क्या तुमने कभी सितारों पर फूल खिले हुए देखे हैं? और कहते हैं उस वक्त वान गौग ने जवाब दिया था—मैंने वो बीज देखे हैं, जिनमें से अभी फूलों ने खिलना है....

कारण शरीर की ऊपर की तीन तहों में सिर्फ़ बीज होते हैं, जो नीचे की तीन तहों में आकारमय होते हैं, लेकिन अभी धरती पर उतरने के लिए उन्होंने एक लंबी यात्रा करनी होती है....अभी धरती पर उनकी परछाइयां भी नहीं होती....

जिन्हें हम सबब कहते हैं, जाने उनके धागे कहां-कहां लिपटे हुए होते हैं, कि उसी शाम जब सुतिंद्र नूर आकर अपनी किताब दी—"सरदल दे आर पार" (दहलीज़ के आर पार) मैंने किताब खोलकर देखी तो सामने लिखा हुआ था—दरियाओं जैसी दोस्ती के नाम....

मैंने ये पंक्ति देखकर नूर को मुबारकबाद जैसी बात कही—कोई एहसास अक्षर बने या न बने, पर दरिया सी दोस्ती को देख लेना, हय्याती का वो मुकाम होता है, जिसके रंग में हय्याती रंग जाती है....

रगों में चलते अहसास को अक्षरों में उतारते समय वही पीड़ा होती है, जो एक पेड़ बनने के समय किसी बीज को टूटने में होती है....

लेकिन बीज की व्यथा ही बीज की मुक्ति है, और एहसास का अक्षर बन

जाना ही उसका तकदीरी करम है। लेकिन ये तकदीरी करम संभल-संभल पैर रखने जैसा होता है, क्योंकि वो ज़बान के भार को मुश्किल से झेल पाता है।

और ये मुकाम होता है—जहां भाषा अलग-अलग हो जाती है। और एक भाषा वो हो जाती है, जिसके सांसों में एहसास सुलगता है, और एक भाषा वो हो जाती है—जो शायरी की तनकीद करती है। नूर शायरी की ओर आया है, लेकिन ज़रा दूर के रास्ते से, शायरी की तनकीद करने वाले रास्ते से। लेकिन मुझे एक तसल्ली हुई कि उसने अपनी नई रचना पर एक मुश्किल से गुज़रने का साया नहीं पड़ने दिया। उसकी कुछ पंक्तियां हैं—

मैं सरसब्ज़ वादियों से गुज़रते हुए
फूलों जैसी तितलियां पकड़कर
तेरे कंधे पर रखने लगता हूं
लो तू कहती है—ऐसा न करो।
कई बार तितली का भार भी सहन नहीं होता....

ये सचमुच उस बीज की गाथा की तरह है, जो अपनी छाती से उगने वाले सुर्ख फूल की कल्पना से थरथराने लगता है....

नूर के साथ आई एक लड़की ख़ामोश बैठी थी, अब बोली—"मैं सीमा के पार गई थी, वहीं से इधर आई हूं मुझे एक चीज़ दी गई थी, आप तक पहुंचाने के लिए। मैं वही अमानत देने आई हूं।"

देखा—वो पोलिश लड़की पंजाबी भी जानती है और हिंदी भी। जब उसने वो अमानत मेरे सामने रखी, तो देखा—कांच का एक पंछी था, जिसके पारदर्शी बदन में से वो पंख भी दिखाई दे रहे थे, जिनकी रगों में वो आसमान बसा हुआ था, जहां अभी पंखों ने उड़ान भरनी थी....

उस लड़की से भेजने वाले का नाम पूछने से पहले ही मैं जान गई कि भेजने वाला मज़हर-उल-इस्लाम ही हो सकता है, और कोई नहीं....

ये विन्सेंट वान हौग के उन फूलों की दास्तान थी जिनके खिलने से पहले वानहौग ने उनके बीच देख लिये थे....

और ये मेरे उस सपने का सत्य था, जिसमें मैंने आसमान में चलते हुए कुछ उन लोगों की परछाइयां देखी थीं, ज़िन्होंने अभी धरती पर उतरना था....

नूर की किताब मेरे सामने थी—सरदल दे आर-पार, और कांच का पंछी मेरे हाथ में था, जिसके पारदर्शी बदन में से उसके सारे पंख दिखाई दे रहे थे, जिन्होंने अभी आसमान में उड़ान भरनी थी। लगा—सरदल का नाम सीमा भी होता है, और भीगे हुए मन ने कहा—ये पंछी भेजने वाले दोस्त! देख! तेरे पंछी ने उड़ान भर ली है, सीमा के पार आ गया है....

घाटी की आवाज़

एक दरवेश हुआ करता था। कहते हैं—एक बार एक व्यक्ति उसके पास आया, कहने लगा—दरवेश मियां, एक बात बता! मैंने एक किताब पढ़नी है, उसके अक्षरों से पार जाकर उसका सच पाने के लिए। तू बता! कैसे पढ़ूं! और किस रोशनी में?

कहते हैं—वह दरवेश हंस दिया, कहने लगा—मुझे नहीं मालूम तूने क्या पढ़ना है, पर एक असूल की बात बताता हूं—कि अगर कोई पुराण उपनिषद् पढ़ना है, तो न हिंदू होकर पढ़ना न मुसलमान होकर। अगर हिंदू होकर पढ़ेगा तो तुझे उस तरह के अर्थ नज़र आएंगे, जो उसमें है ही नहीं। और अगर मुसलमान होकर पढ़ेगा, तो तुझे वह अर्थ दिखाई ही नहीं देंगे, जो उसमें समाए हुए हैं....

दरवेश फिर हंसने लगा, और कहने लगा, इसलिए कहता हूं कि अगर अक्षरों के पार जाना है, तो आलोचक होकर भी किताब को हाथ न लगाना। आलोचक तो घर से ही अपना अर्थ पल्लू में बांधकर ले आता है, और फिर बेचारी किताब के पन्नों पर पलटकर उसके तर्क बनाने के लिए बैठ जाता है....

उस व्यक्ति की आंखें दरवेश के लिए मोह से भर गईं, तो उस दरवेश ने कहा—अगर कोई सच ढूंढ़ने के लिए अक्षरों के पार जाना है तो अपने मन के ऊंचे पहाड़ों की घाटी में चला जा। तुझे मालूम है कि घाटी में आवाज़ गूंजती है। तू वहां बैठकर खुद न बोलना, किताब को बोलने देना! फिर उसकी आवाज़ घाटी में गूंजेगी, और पलटकर तेरे पास आएगी। उस समय तेरे बदन में जो सनसनाहट उतरेगी बस उसी में वह शक्ति होगी, जो तुझे अक्षरों के पार ले जाएगी....

कहते हैं—दरवेश फिर हंस दिया और चुप होने से पहले एक बार फिर बोला—नेकबख़्त! घाटी में तू मत जाना, तू खुद घाटी बन जाना!

यह बात उस समय की है, जिस समय किसी ने एक प्राचीन पुस्तक के सत्रह सूत्र पढ़ने थे। वह भी एक-एक पंक्ति का एक-एक सूत्र। पर वह घटना थी, सो सत्यार्थी जी की रचना को पढ़ते वक़्त, मेरे पास आ खड़ी हुई, और आहिस्ता से हंसने लगी....



देवेन्द्र सत्यार्थी और अमृता प्रीतम

शायद तीस बरस बीत गए हैं कि चालीस, जब मैंने कहा था, "सत्यार्थी की कलम के साथ एक युग बदला है। एक इस तरह की ताज़गी आई है कि अपनी बच्ची के लिए तो बात उन्होंने कही, वह सिर्फ़ एक बार कही जा सकती है—कि पारुल मेरी बच्ची ने नए आए बेरों की हम उम्र, पर उनकी हर रचना, हर बार नए उगे बेरों की हम उम्र होगी—सुर्ख और ताज़ा...."

और वह घटना, जो मेरे पास खड़ी होकर कुछ हंस दी थी, मुझे पूछने लगी—फिर?

मैंने कहा—अरी देख! समकालीन होना एक वरदान भी होता है, और श्राप भी। फिर समय आया—मैं कई बरस ख़ामोश हो गई। बात यह हुई थी कि किसी चट्टान के नीचे कच्ची नींद सोए पानी की कहीं आंख न खुल जाए, कहने वाले कवि को न जाने क्या हुआ कि उसी पानी में उसने कई मैले अक्षर फेंक दिए। मैंने जब यह देखा था तो मेरे सामने एक ही रास्ता रह गया था—ख़ामोश हो जाने का।

वह दरवेश वाली बात जो मेरे पास आकर खड़ी हो गई थी, कहने लगी—अब तू ऐसा कर! अगर सत्यार्थी की रचना का सच ढूंढना है, तो घाटी में जाते समय 'मैं' को साथ न ले जाना! सिर्फ़ 'हां' को साथ ले जाना! बत की ख़बर सार रखने के लिए।

"मैं" "हां" यह दो बीज अक्षर होते हैं। इनको जानने के लिए उस दरवेश ने सचमुच एक संकेत दिया था, कि "मैं" घाटी में जा सकता है, पर घाटी हो नहीं सकता। "हां" में बड़ी मुरव्वत होती है, वह घाटी हो सकता है।

बात सच्ची थी। इसलिए घाटी में जाते वक़्त "मैं" को मैंने घाटी से बाहर कर दिया, और हां को लेकर सत्यार्थी जी की रचना सामने रख ली। सत्यार्थी जी के अक्षर जिस तरह घाटी में गूंज गए, और पलढ़ी आवाज़ बनकर घाटी में बरसने लगे, सिर्फ़ उसकी कुछ बात करूंगी—

सबसे बड़ी बात यह है कि सड़कों पर से निकलते हुए लोग सड़कों पर होते हुए भी, गैर-हाज़िर होते हैं। सड़कों पर हाज़री लगाने वाला सिर्फ कभी कोई राहुल सांकृत्यायन होता है, या कोई प्रबोध सान्याल। और पंजाबी अदब में सिर्फ़ एक ही नाम है—देवेंद्र सत्यार्थी, जिसकी हाज़िरी से सड़कों ने कई गांठें, पोटलियां खोलकर रख दीं। और सड़कें हंसकर सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलयुग के बरस बांटने लगी। इन सड़कों से जब कवि पूछता है—क्या ऋषि अगस्त्य इन रास्तों से गुज़रा था? तो उत्तर में परंपरा के वृक्ष की जड़ें भी बोलती हैं, और उनकी मिट्टी पर वृक्ष का नया बौर भी झड़ता है....

वृक्ष के नए पत्तों को जड़ों की आशीष मिले, यह प्रकृति के स्वभाव का सहज कर्म होता है, पर यह इंसानी तारीख़ को कभी मंजूर नहीं हुआ। इसलिए यह घटना बहुत बड़ी है कि सत्यार्थी जी की कलम में यह बात सहज घटित हो गई।

वृक्षों की जड़ें अपने शाश्वत सौंदर्य की बात करती हैं, तब उषा, वेद की ऋचा जैसी हो जाती है। और फिर जब आज के मुर्झाए पत्तों की बात चलती है, तो कवि को आज की अणु-शक्ति 'हीर' नजर आती है, जहां 'रांझा' उन कारण भैंसे चराता हुआ अणु शक्ति से भस्म होने के लिए बैठा हुआ है....

यह हमारा सत्यार्थी आज के युग का कबीर है जो अपनी खड्डी पर तीनों काल बुनता है। सब्ज़ मेहंदी के सुर्ख कामण भी खड्डी पर बुनता है, और हंसता है। और विनाशकार रुचियों के संकेत भी बुनता है, और रोता है।

जिसके सांसों ने सास्ते ब्याहे हों, सिर्फ़ प्रांतों के नहीं, समय काल के भी, उसे कहना कुछ नहीं होता, सिर्फ़ घाटी की प्रति-आवाज़ में भीगना होता है और अपने गीले सुगंधित सांसों में उसकी आवाज़ को उतारना होता है–

राहों की बाणी गऊ माता
सच गवाला, मैंने सब जाना
राहों का अनुभव दूध सा मीठा
मैंने पिया, सब सुना, सब देखा
जला री प्रतिभा दीया जला!
राहों की धूल कहीं गाली न दे
लोक-गीत का बाजे ढोल
राह का सपना, सच का तोल....
यह अनुभव की माया....
सच भी तो अनुभव से आया
चलते पांव सच के लक्षण
मैंने देखा उत्तर-दक्षिण
पूरब पश्चिम....

यह अक्षर थे, जो घाटी में से बोले, उत्तर दक्षिण की ओर से भी, पूरब पश्चिम की ओर से भी, तो इनकी आवाज़ थी, जो अक्षरों से पार चली गई, वहां, जहां कवि पैरों की धूल झाड़ता कह रहा था–"आओ! हम सभी वर्षों के बोझ तले दब जाने से इंकार कर दें, और जीवित क्षणों की आरती उतारें!"

यह जीवित क्षण सत्यार्थी जी का सच है।

इस सच को घाटी का नमस्कार!

आत्महत्या से पहले लिखी हुई एक प्राचीन कविता

होठों पर जिंदगी की प्यास लिये, इंसान जाने कितने मरुस्थल अपने बदन पर झेलता है। दुनिया के इतिहास में एक नज़्म मिलती है, उस काल की, जब दुनिया में काग़ज़ नहीं बना था। और यह नज़्म किसी उसकी लिखी हुई है, जो अपने नाम की जगह लिखता है–'वह आदमी जो दुनिया से ऊब गया।' और उसने आत्महत्या करने से पहले कुछ पंक्तियां लिखीं....

उस काल में एक पेपिरस नाम का पेड़ होता था, मिस्र में, जो नील दरिया के पास आस उगाया जाता था। उसकी मोटी जड़ की लकड़ी से किश्तियां बनती थीं, और जो चार हाथ लंबी उसकी डंडियां निकलती थीं, उनके फूल तो देवताओं को अर्पित किए जाते थे, और डंडियों से काग़ज़ बनाया जाता था। वे डंडियां एक सी लंबी काटकर, जमीन पर बिछा दी जातीं, फिर डंडियां उल्टे रुख से, दूसरी पर्त की तरह उसके ऊपर बिछाई जातीं।

नील दरिया का पानी उन पर छिड़क दिया जाता, और डंडियों से निकलने वाला रस, उन्हें आपस में जोड़ देता। फिर वह टुकड़े जब धूप में सूख जाते, तो लोहे के बेलन से ऊन की तह बिठाकर, हाथी दांत को पीसकर, उन तहों को चमका लिया जाता। सीपियों को भी पीसकर यह काम लिया जाता था। फिर उसी के टुकड़े काटकर, उससे काग़ज का काम लिया जाता था।

मिस्र की प्राचीन धार्मिक रचनाएं उन्हीं काग़ज़ों पर लिखी मिलती हैं। उन्हीं प्राचीन पत्तरों में किसी के हाथ की लिखी हुई एक कविता मिली थी, जो किसी ने खुदकुशी से एक घड़ी पहले लिखी थी–

आज
मौत मेरे सामने खड़ी है–साक्षात
मैं इस तरह–जैसे एक कैदी
बंदीखाने से छूटकर बाहर जाने को है
आज
मौत मेरे सामने खड़ी है–साक्षात
और उससे कमल फूलों सी सुगंध आती है
मैं इस तरह–जैसे कोई

बौर आई धरती के किनारे पर बैठा हो।
आज
मौत मेरे सामने खड़ी है—साक्षात
और मैं इस तरह—जैसे कोई आदमी
घर जाने के लिए तरस गया हो
और कोई वह—जिसने कितने ही बरस
एक कैद में गुज़ारे हों!

एक नज़्म की दास्तान

इन्सानी मन जाने कैसा जुलाहा है कि वह जिस तरह चाहता है, सभी पाप और पुण्य अपने ताने-बाने में बुन लेता है। जिन ठगों और डाकुओं ने उन्नीसवीं सदी के शुरू में कैप्टन स्लीमन के आगे आत्म-समर्पण किया था, उसका ब्यौरा देते हुए जेम्स हटन ने एक किताब लिखी थी जिसमें ठगों और डाकुओं की जुबानी कई हालात बड़ा तफसील से लिखे कि वे लोग किस तरह देवी की पूजा भी करते थे, और जंगल में किन-किन पक्षियों की आवाज़ों से अपनी किस्मत का अनुमान भी लगाते थे....

उन लोगों को फांसीगर भी कहा जाता था। उनमें से किसी ने यह भी बताया, कि यह काम अपने छोटे बच्चों से छुपाकर किया जाता है, फिर आहिस्ता-आहिस्ता जवान बच्चों को काम में शामिल किया जाता है पर कभी कोई जवान बच्चा इस काम से नफ़रत भी करने लगता है। एक बार तो एक चौदह साल का बहुत प्यारा बच्चा था, कुहोरा नाम का, उसने राह चलते बेगुनाह लोगों को तड़प-तड़पकर मरते देखा, तो कांपने लगा। वह उसी तरह कांपते-कांपते और चीखते-चीखते उसी संध्या को मर गया। यह देखकर सरदार डाकू हरसुका का मन दुनिया से उपराम हो गया और वह नर्मदा के किनारे एक मंदिर में जाकर अपनी जिंदगी बसर करने लगा...

उन्हीं लोगों में एक लायक नाम का आदमी था, जिसने खुशी से आत्मसमर्पण किया था, लेकिन जब बाद में उसे पता चला कि उसका सगा भाई पकड़ लिया गया है तो वह तड़प उठा, और उस हालात में उसने एक नज़्म लिखी, जो एक दस्तावेज की तरह पुलिस के कागज़ों में संभाल ली गई। वह नज़्म थी—

मैं एक मोती था
कभी सागर में सुख से रहता था
फिर आत्म-समर्पण कर दिया
सोचता था—
मैं एक सुंदरी की छाती पर खेलूंगा
हाय रे!
उन्होंने मुझे बींध दिया
एक तार मेरे बदन से गुज़र दी

और किसी की नाक का जेवर बनाकर
हमेशा के लिए तड़पने को छोड़ दिया....

जंगी कैदियों की कविताएं

बर्लिन से करीब तेरह मील उत्तर की ओर साच सेनाऊसेन नाम की एक जेल थी, और जब उसे 1958 में गिराया गया तो उसके मलबे में से एक फटी हुई कापी मिली, जिसमें पचास कविताएं थीं....

1915 में जब कुछ बैरकों की मरम्मत की गई थी, बिजली के तारों की मरम्मत एक नार्वेई कैदी ने की थी, जिसका नाम था—मार्तिन गाऊसलो, उसने बताया कि वह जब मरम्मत के काम में था, तो कुछ रूसी कैदियों ने उसे एक कापी दी थी, कविताओं की, जेल की दीवार में छुपा देने के लिए। और उसने रसोईघर के फर्श में वह कापी छिपा दी थी।

वह जेल पश्चिम की 27 कौमों के कैदियों का कब्रिस्तान था, जहां एक लाख से ज्यादा कैदियों को कत्ल किया गया। फिर करीब 30 हजार कैदी बचे थे, जिन्हें 21 अप्रैल 1945 के दिन जेल से निकालकर किश्तियों में बिठा दिया गया, समुद्र में गर्क हो जाने के लिए।

उस कापी में जो 50 कविताएं हैं, उनमें से अंतिम कविता पर तारीख़ दर्ज है—27 जनवरी 1945 और उसकी कुछ पंक्तियां हैं—

इस बेगाने देश की लानती ज़मीन पर
मुझे ज़िंदगी से विदा होना पड़ा....
भरी जवानी में, बेतरस हाथों से मरना पड़ा—
अगर मेरी लाश को जलाकर
इन लोगों ने राख भी उड़ा दी, तो क्या है!
मेरे दोस्तो! मैं तुम्हें प्यार करता था
ज़िंदगी की कद्रो-कीमतों का एक रिश्ता था
तुम मेरा जनाज़ा नहीं देख पाओगे
लेकिन तुम मर्दों की तरह उठना!
यह क़ैदख़ाने गिरा देना
और ज़िंदगी का झंडा—
आस्मान तक ले जाना!
मेरे दोस्तो! मेरे साथियो!
आसमान के उजरे में जाकर
धरती का द्वार बंद किया
तो इश्क की भभूती मन पे लगाकर
मेरा खुदा—संन्यासी हुआ

मन माली, जिज्ञासा मालिन

यह ऐसी पंक्ति है—जिसे होठों पर रखते ही तन की मिट्टी ज़रखेज़ हो जाती है। और अपनी मिट्टी में खोए हुए उस बीज को तलाशने लगती है, जिसने मन के माली के हाथों और जिज्ञासा की मालिन के हाथों खिलना है....

यहां शिव और शक्ति का नाम मन और जिज्ञासा हो गया लगता है। शक्ति भी जब शिव में समाई होती है, उसका अलग वजूद नहीं रहता है। जिज्ञासा भी जब मन में उतर जाती है, उसका वजूद नहीं दिखता। पर ये शिव और मन होते हैं—जो बीज की लीला को देखने के लिए शक्ति को भी साकार करते हैं, और जिज्ञासा को भी....

कश्मीर की शायरा ललारिफ़ा शिव योगिनी थी, और जरूर ऐसा हुआ होगा कि उसने शिव और शक्ति को, मन और जिज्ञासा का नाम देकर—अपनी बीज लीला देखी होगी। ग्रंथकारों ने ललारिफ़ा के 139 वाख चुने हैं, यह उनमें से 69वां है, चार सतरों का—

मन माली—जिज्ञासा मालिन
अंतर का फूल खिला
मैंने चांद का पानी अरघ दिया
और चुप का मंत्र पढ़ा....

यह तलब की यात्रा होती है, जिज्ञासा की, जो किसी को स्थूल काया से सूक्ष्म काया में ले जाती है। फिर सूक्ष्म काया से कारण काया में, और फिर कारण काया से महाकारण काया में। और यह महाकारण काया होती है, चौथी काया, जिसमें हर तरह की लीला होती दिखती है। ललारिफ़ा के मन माली ने और जिज्ञासा-मालिन ने, जो अंतर का फूल खिलता हुआ देखा, वह चौथी काया की चेतना ने देखा। यह नसीब सिर्फ़ उस चौथी काया का होता है—जो काल की सीमा से आगे असीम में पैर रख सकती है—सपने संकेत देते हैं, इलाही रंग दिखते, और नाद सुनाई देता है।

और जहां तक चौथी काया में पहुंचने की यात्रा है, ललारिफ़ा उसका प्यारा सा संकेत देती है—मैंने चांद का पानी अरघ चढ़ाया....

यह चांद का पानी हर काया के पास होता है, पर चंद्र नाड़ी के इस पानी को सूर्य नाड़ी की अग्नि सुखा देती है। और किसी को भी उस पानी का पता नहीं मिलता। ललारिफ़ा शिव योगिनी थी, उसने योग साधना को कोई शब्द नहीं दिए, पर उसकी साधना किस मुकाम पर पहुंच जाती है– उसका संकेत ज़रूर दिया है। साधना के लंबे और दुश्वार रास्ते को दो सतरों में समेटे हुए शायद ही कोई और उक्ति कहीं मिलती हो, पर वह ललारिफ़ा के हरफ़ों में मिलती है। वह जब अंतर के फूल को पूजा के फूल की तरह अर्पित करती है, और साथ में चांद के पानी का अरघ देती है—तो उसकी काया का हर संकेत मुंह से बोलता है।

इस 69वें वाख से पहला 68वां वाख है—

कवण सु माली, कवण सु मालिण
कवण सु फूल चढ़ाऊं
कवण सु पानी अरघ देऊं मैं
कवण सु मंत्र सुनाऊं

और आगे जाकर ख़ुद ही उसकी प्रश्न का उत्तर बन जाती है—"मन माली जिज्ञासा मालिन...." और अंतिम सत्तर कहते-कहते उसकी चेतना यात्रा के पांचवें और छठे मुकाम पर पहुंच जाती है—जहां हर लीला का लय हो जाता है। अक्षर लीला का भी। वह सिर्फ़ इतना संकेत देती है—मैंने चुप का मंत्र पढ़ा....

वैसे तो चौथी काया के मुकाम पर भी इस तरह के मंजर सामने आते हैं, जिनमें से कुछ बताए जा सकते हैं, कुछ नहीं। पर उस नहीं में अपने ही संयम का दख़ल होता है। वह अपनी होशमंदी की ओर से किया गया इंकार होता है, जो ख़ामोशी धारण कर लेता है। पांचवीं और छठी अवस्था में संयम का दख़ल नहीं होता—वह अवस्था ही अक्षरों से पार होती है।

ललारिफ़ा चुप का मंत्र पढ़ते-पढ़ते कौन-सा इलाही दीदार पा गई, इसका बस उतना भर अनुमान होता है, जितना कि ईश्वर या अल्लाह बोलने से होता है, उसके काल में जो चेतना वाले थे—बस इतना कह सके—हमारे पास दो ही लफ़्ज हैं—या अल्लाह या लल्लाह....

रब्ब रांझे जैसा नाहीं....

उपनिषद् कहते हैं—'रब्ब दूर से भी दूर करीब से भी करीब' और ओशो बहुत गहरे और व्यापक अर्थों में उपनिषद् की इस सत्तर को थोड़ा-सा बदलकर कहते हैं—पुरुष के लिए दूर से भी दूर, स्त्री के लिए करीब से भी करीब....

वे यह बात, संत—कवि सहजो बाई की बात करने से पहले, संत-औरत की सहज रुचि के सिलसिले में कहते हैं, जो संत-मर्द से अलग होती है।

सहजो का नाम संत-साहित्य में आदर के साथ लिया जाता है, पर उसकी ज़िंदगी के बारे में इतिहास ने कुछ संभालकर नहीं रखा। सिर्फ़ इतनी सी जानकारी कि वह राजपूताने में पैदा हुई थी, और विक्रमी संवत् 1800 में हुई थी।

ओशो हंसकर कबीर की वह सत्तर सामने रखते हैं, जिसमें कबीर के सामने गुरु भी है, गोविंद भी, और मन सोचों में डूब जाता है—'गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पाए' और फिर कबीर का अपने आप को दिया हुआ तर्क है—'बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताए' और ओशो कहते हैं—'कबीर ने कारण ढूंढ़ लिया, गुरु के पैर छूने का, कि उसी ने गोविंद का पता दिया था, इसलिए गुरु के पैर छूता हूं। पर इशारा दे दिया कि गोविंद गुरु से बड़ा है। गुरु को भी खुश कर लिया कि पैर तो तेरे हुए हैं, साथ ही गोविंद को भी खुश कर लिया कि तेरे कारण हुए हैं।

यह संत-मर्द और संत-स्त्री का फ़र्क़ है। स्त्री तर्क का जाल नहीं बुनती, सीधे दिल की बात करती है। सहजो निःसंकोच कहती है—'राम तजूं पै गुरु न बिसारूं' 'गुरु के सम हरी को न निहारूं' उसकी प्रेम-भक्ति के सामने गुरु का आकार है, एक यथार्थ, पर राम की धारणा दूर की बात है—निराकार की बात। और निराकार की ख़ातिर आकार नहीं छोड़ा जा सकता। गुरु तो देखा जा सकता है, पर राम एक कल्पना है, पता नहीं वह किस आसमान में रहता है....

रजनीश किसी एक को छुटियाते नहीं, सिर्फ संत-मर्द और संत-औरत की सहजता को बयान करते हैं। कहते हैं—'यही बात कबीर ने कही, यही सहजो ने, पर एक फ़र्क है—कबीर के अंतर का मर्द दोनों का मान रखता है, पर सहजो के भीतर की औरत रखरखाव नहीं जानती, कहती है—'हरी ने जन्म दिया, पर पांच चोर पीछे लगा दिए। पांचों चोरों ने जाल बिछाए, पांचों इंद्रियों ने मुझे बांध लिया। छुड़ाया तो

गुरु ने और सहजो दुविधा नहीं जानती, कहती है–'गुरु न तजूं हरी को तज डारूं।'

और ओशो संत-स्त्री की बड़ी प्यारी व्याख्या करते हैं–''मर्द तब निरअहंकार होता है जब उसकी गागर ख़ाली हो जाती है, पर स्त्री भरी पूरी गागर के साथ भी निरअहंकार हो जाती है।''

और यह पढ़ते हुए मेरे मन में एक हसरत आई कि अगर ओशो ने किसी मिट्टी की महक से उठे हुए प्यार को जीने वाली का यह बोल सुना होता कि 'रब्ब मिला, रांझा न मिला, रब्ब रांझे जैसा नाहीं'–तो पता नहीं वे किस-किस आसमान की, और किस-किस पाताल की बात करते।

भक्ति के रंग में रंगे जाना बहुत ऊंची अवस्था है, पर रब्ब या गुरु को ऊंचे स्थान पर रखकर और खुद कुछ दूरी पर नीचे खड़े होकर। लेकिन प्यार किसी भी दूरी का दखल नहीं होता। किसी तर्क का भी दखल नहीं होता। किसी त्याग का भी नहीं। वह 'आदर' जैसे लफ़्ज़ से भी पार चला जाता है। वह खुदी का दर्शन होता है।

सोलह कलाएं संपूर्ण कहकर, योग शास्त्र इंसान के ब्रह्म-रंद्र में पड़े हुए नील बिंदु को सत्रहवीं कला कहते हैं, जिसमें खुदी का दीदार होता है। मुहब्बत सचमुच सत्रहवीं कला होती है, इसलिए रांझा उस नील बिंदु का प्रतीक है, जिसमें उसे प्यार करने वाली ने अपने आप को पहचाना है।

यह कहना–कि रब्ब रांझे जैसा नाहीं, रब्ब को छोटा करती हुई बात नहीं है, उस निराकार के आकारमय रूप को प्यार करती हुई बात है। इश्क जानता है–कि रब्ब, रांझे का निराकार रूप है, और रांझा, रब्ब का आकारमय रूप।

अगर प्यार करने वाली आत्मा अभी स्थूल काया में है, तो उसका प्रिय की स्थूल काया के लिए छलक पड़ना, वह सहज अवस्था है–जिसमें सूक्ष्म, और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म काया मिली हुई है। वहां स्थूल का भी स्वीकार है, सूक्ष्म का भी स्वीकार है।

एक जगह ओशो बहुत मोह से कहते हैं–तैरना तो किसी को भी सिखाया जा सकता है, पर डूबना नहीं सिखाया जा सकता। प्यार तो डूबना है। इसीलिए साधना किसी को सिखाई जा सकती है, पर प्यार नहीं सिखाया जा सकता। साधना पर शास्त्र लिखा जा सकता है, पर प्यार पर शास्त्र नहीं लिखा जा सकता। साधना एक विधि है, प्यार विधि नहीं।

इंसान की चौथी मानसिक अवस्था तक तो शब्द होता है, पर पांचवीं अवस्था पर जाकर सबकुछ निःशब्द हो जाता है। वह अनुभव पाया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। और लगता है–इश्क का आगाज़ ही पांचवीं अवस्था से होता है, जहां जो कहा जाता है–सिर्फ़ कोई संकेत होता है, शब्द नहीं होता। 'रब्ब रांझे जैसा नाहीं' कहने वाली ने कहा कुछ नहीं; न किसी रूप का वर्णन, न किसी वसफ़ का, उसने तो जो रंग और जो रोशनी रंगों में उतरते देखी, बस इतना भर कहा–रब्ब रांझे जैसा नाहीं....

जेवड चर्ख़ा तेवड पूनी

तर्क देखता रह जाता है—कि जितना चर्ख़ा है, उतनी पूनी कैसे हो सकती है? चर्ख़ा तो उसी तरह रहेगा, उतने का उतना, खत्म तो पूनी ने होना है....पर यह वस्तुओं की हकीकत नहीं, यह इश्क की हकीकत है—कि अगर कभी टूटना-बिखरना है तो काया के चर्ख़े ने, तलब की पूनी नहीं खत्म हो सकती....शाह हुसैन की चेतना जिस पूनी को कात रही है, वही बोलती है—जेवड चर्ख़ा तेवड पूनी, कातूं मैं मन के साथ चर्खा मेरा रंगला रंग लाल....

चर्खे का लाल रंग सिर्फ़ योगी जानता है, कि अंतर्शक्ति जब जागकर काया में विचरती है, तो पूरी काया के आकार की सुर्ख लाल लकीर उठकर, काया के अंदर भी उतर जाती है, बाहर भी। अपने भीतर जो अपनी काया का पहला दीदार होता है, वह काया लाल रंग की होती है। यह जो शाह हुसैन का कथन है 'चर्ख़ा मेरा रंगीला रंग लाल', ठीक यही योगिक भाषा की रक्तेश्वरी है। रक्त की ईश्वर। लहू की मालिक—अंतर की सुर्ख़ शक्ति।

सूफी शायरी ने बहुत घरेलू और बहुत साधारण वस्तुओं के नामों में बहुत बड़े रहस्य लपेटे हुए हैं। यह शाह हुसैन का चर्खा भी काया का प्रतीक होकर, जो इश्क कात रहा है, वह अंतर्शक्ति के पूर्ण दर्शन को अक्षर-अक्षर में डालकर बोल रहा है—'कहे हुसैन फ़कीर साईं का, तंद तकले के साथ....'

धागे का तकले में से निकलना और फिर तकले के साथ लिपट जाना-सांसों के उस सिलसिले की बात करता है, जो श्वास काया के तकले पर काते जा रहे हैं। सूरज या चंद्र नाड़ी से निकलकर फिर उसी राह से भीतर जा कर किसी शक्ति को छू कर, और उसे दुलार कर आते हैं। यही क्रम आहिस्ता-आहिस्ता उन गांवों को खोलता है, जिनकी बात शाह हुसैन ने एक कसक से की है—गांठों में गांठें पड़ी हुई दुनिया एक जंजाल....

काया के भीतरी शक्ति केंद्र नाड़ियों के गुच्छे होते हैं, पर जो कभी, दुनिया की वासनाएं और इच्छाएं भीतर उतर जाती हैं, वे नाड़ियों में गांठें डाल देती हैं, जिन

गांठों में शक्ति का विचरण बहुत तड़पा देने वाला होता है। शाह हुसैन ने उसी की बात हौले से की है—गांठों में गांठें पड़ी हुईं, दुनिया एक जंजाल....

पर जहां तक अपनी तलब की बात है, वह पूनी तो चर्खे की उम्र से छोटी नहीं—वह तो जेवड चर्खा तेवड पूनी है, और गांठों की पीड़ा को पीकर भी, वह तलब कहती है—कातूं मैं उमंगों के साथ चर्खा मेरा, रंगला रंग लाल....यही चर्खे के बराबर की पूनी दरवेशी का मुकाम है....

कच्चा रंग मित्रों का

ज़ेन फ़कीर एक सादी सी बात कहते हैं, पर उस बात ने सारा आसमान अपने में लिया हुआ है। ज़ेन फ़कीरों की इस खासियत को ओशो अंतर तक पहचान कर उसकी कई बार व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या है–'कोई गहरी जिज्ञासा लेकर, जब किसी ज़ेन फ़कीर के दरवाजे पर पहुंचता है–तो फ़कीर पूछता है–'दाल रोटी खा ली?' जिज्ञासु हां में उत्तर देता है, तब वह ज़ेन फकीर सिर्फ़ इतना कहता है–'अच्छा फिर थाली कटोरी धोकर रख दे।''

और ओशो ये बातें सुनाते हुए हंसते हैं; 'यह छोटा सा सवाल, और फिर छोटा-सा आदेश–किसी को साधना के रास्ते पर डालने से पहले ज़रूरी था। यह पूरी तैयारी का संकेत होता है कि वह दुनिया की वासना से सुर्खरू होकर आया है। यह समझकर आया है कि दुनिया जो खिला सकती है, वह उसकी तस्सली नहीं बन सकता। दुनिया जो दिला सकती है–वह भीतर की प्यास को नहीं मिटा सकता। इसीलिए पूछा था–''दाल रोटी खा ली?'' और जब उसने हां कह दी, तो आदेश था–''अच्छा फिर थाली कटोरी धोकर रख दे!''–धोकर रखने का अर्थ है, कि किसी भी लाग लपेट से बर्तनों को साफ़ कर ले! ताकि फिर किसी स्मरण की वासना न आए....''

लगता है–कभी-कभी हमारे लोक गीतों की किसी सतह में कोई ज़ेन फ़कीर बैठा हुआ होता है। एक बहुत सादी सी दिखती बोली है–''कहां से आई है रंगा कर कपड़े, अरी कच्चा रंग मित्रों का....''

मैंने यह बोली सुनी तो इसकी तार फैलती फैलती चेतना के उस संकेत तक पहुंच गई–कि जब दुनिया की हर एक वासना बहुत सुर्ख सब्ज़, शोख और चमकीला रंग चढ़ाती है, और मन मोहित हो जाता है–जो आहिस्ता से कहता है–कहां से आई है रंगाकर कपड़े, अरी कच्चा रंग मित्रों का....''

यहां मित्र लफ़्ज़ भी वासना के लिए है, जो मित्र होती नहीं, दिखती हैं। वे

बड़े मोहक रंग चढ़ा सकती हैं—पर गुलाबों के, कच्चे—जिन्होंने दो बूंदें पड़ने पर मिट जाना होता है....

इस़ सतर के हाथ बहुत लंबे जान पड़ते हैं—इसने रंग ले पैहरन के छोटे से शौक़ को लेकर बहुत दूर तक—दौलत, शोहरत और सत्ता तक के रंगों को हाथ डाला हुआ है—और जिन की सार सिर्फ़ वह बारिश का पानी जानता है, जिसने हर रंग को मिटा देना है....

लगता है—यह सतर होठों से इतना नहीं कहती—पर एक संकेत सा देकर इतना कुछ कह जाती है, कि सामने कोई ज़ेन फ़कीर खड़ा हुआ दिखता है....

पत्तन पर खड़ी सुंदरी, घूंघट निकाल ले!

बात सूफ़ी शायरों की हो रही थी—जो चर्खे की बात करते-करते पूनी से ग़ैब के धागे निकाल लेते हैं....

साईं काका कहने लगे—"शायर किस पल में किस आलम में पहुंच जाता है, कई बार वह खुद भी नहीं जानता, उसके साधारण अक्षरों में कई रमज़ें आकर बैठ जाती हैं। उन रमज़ों को लोग भी नहीं पकड़ सकते, शायर भी नहीं पकड़ सकता....

और बात जापान के हाइकू से होती हुई पंजाब की एक सतरिए बोली पर आ गई। कुछ बोलियां उन्होंने सुनी हुई थीं, कुछ आला पाए की मैंने सुनाई, तो एक बोली सामने आई—पत्तन पर खड़ी सुंदरी, घूंघट निकाल ले! नहीं तो पानियों को आग लग जाएगी....

काका हंसते से ख़ला में देखने लगे, कहने लगे—"इस एक पंक्ति में आसमानी विज्ञान छुपा हुआ है। यह सारी, वार्ता समुंदर की आग की है, जिसे बड़वानल कहते हैं। जब तूफ़ान उठते हैं, पानी की बूंद में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन अलग-अलग हो जाते हैं। उस समय हाइड्रोजन जलना शुरू हो जाता है और ऑक्सीजन उसके जलने में उसकी मदद करती है—उस समय समंदर में आग पैदा होती है....

यह मिलाप और बिरहा का बहुत प्यारा प्रतीक है। जब तक हाइड्रोजन और ऑक्सीजन इकट्ठे होते हैं, प्रेमियों के मिलन की अवस्था होती है, आनंद की शांत समुंदर की पर जब कोई अंधेरी और कोई तूफ़ान उन्हें अलग कर देते हैं, बिरहा की अवस्था शुरू हो जाती है—प्रिय की याद उसी तरह आती है—जैसे ऑक्सीजन खुद ही आग को जलाने में मदद दे रहा हो। जो वसल की घड़ी दे सकता हो, बिरहा भी वही दे सकता है। यह समुंदर की आग, इस एक पंक्ति ने पूरी संभाली हुई है, वह किनारे पर खड़ी हुई सुंदरी पानी की छाती में पड़ी हुई आग को मचा देने का प्रतीक है....

'एक और भी पहलू है—शिव का काम कला तत्त्व, विश्व उत्पत्ति के बाद

शांत होकर योग निद्रा में चला जाता है। वही शांत पानी है—इस पंक्ति का। यह नदी का पानी शिव की योग निद्रा है। और शिव जब बिंदू की सूरत में हो जाता है—शांत और अडोल, उस समय देवी उसमें से निकलकर संसार की पालना करने के लिए चली जाती है।

"इस पंक्ति में नदी के किनारे खड़ी हुई सुंदरी, देवी के लौट आने का प्रतीक है, जिसे देखकर, बिंदु के काम कला तत्त्व ने जागना ही होता है—आग की लपट बनना ही होता है।"

मैं हंस रही थी—यह अर्थ तो न लिखने वाले ने जाना, न नाचकर यह बोली गाने वालों ने। और साईं काका कह रहे थे—"मैंने इसीलिए कहा था कि पल भर के लिए कोई शायर किस आसमान को छू लेता है, यह वह खुद भी नहीं जानता और क़ुदरत उसके द्वारा कई रहस्य उसके अक्षरों में डाल देती है।"



कृष्ण की रास लीला ही
शायरों की अक्षर लीला है....

और इस लीला में—
एक शायर के अंदर
कृष्ण भी होता है
और सखियां भी....

—अमृता

कृष्ण की रास लीला ही
शायरों की अक्षर लीला है....

और इस लीला में—
एक शायर के अंदर
कृष्ण भी होता है
और सखियां भी....

—अमृता